विचार विमर्ष

(विवेचनात्मक लेखों का संग्रह)

—:*:—

लेखक
सद्गुरुशरण अवस्थी

प्रकाशक
रामनारायण लाल
पब्लिशर और बुकसेलर
इलाहाबाद

द्वितीय बार] १९४६ [मूल्य १॥)

क्यों ?

यह संग्रह क्यों प्रकाशित कराया गया ? इसका उत्तर मेरे पास कोई संतोषजनक तो नहीं है, पर साधारणतया मेरी इच्छा यह थी कि समय-समय पर लिखे हुए मेरे लेख, एक पुस्तक में, एक साथ, संकलित हो जायँ। ये सब लेख भिन्न-भिन्न मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। मेरे मित्रों ने और कुछ अपरिचित साहित्य रसिकों ने इन्हें अच्छा बताया है। साहित्य के विद्यार्थियों को इनमें उपयोगी बातें मिल जायँगी यह मुझे भी विश्वास है।

साहित्योद्यान में विचरण करते-करते बहुत बार मैंने रुक कर मूल्य निरूपण किया है। मूल्य-निरूपण-कला को भी समझने और समझाने का प्रयास किया है। ये प्रबंध मेरे इसी वृत्ति के परिणाम हैं। रहस्यवाद, उसका छायावाद से अंतर, रहस्यवादी छायावाद अथवा छायावादी रहस्यवाद, कोरा रहस्यवाद अथवा कोरा छायावाद, भ्रम से छायावाद अथवा रहस्यवाद पुकारा जाने वाला काव्य—इत्यादि इत्यादि विषयों की खुली हुई, उदाहरणों के साथ, स्पष्ट मीमांसा की गई है। पहले लेख का कालेवर बहुत बढ़ गया है; परंतु इससे उसकी उपयोगिता भी बढ़ गई है। मुझे इसका अनुभव है कि हमारे बहुत से साहित्य-रसिकों को इन विषयों का ज्ञान नहीं है। जिन व्यक्तियों की रचनाओं की समीक्षा इस संकलन के लेखों में आ गई हैं उनसे लेखक का कोई व्यक्तिगत राग द्वेष नहीं है। इस संग्रह के लेख मनन साध्य अधिक हैं यह मैं मानता हूँ, पर उनको दुरूह नहीं होने दिया गया है।

सद्‌गुरुशरण अवस्थी

विषय-सूची

विचार विमर्ष

रहस्यवाद और हिंदी में उसका स्वरूप*

ज्ञानगम्य और भावगम्य परिस्थितियों का समाहार स्थूल रूप से सत् और असत् में पूरा पूरा विभाजित किया जा सकता है। सत् का स्थायित्व ज्ञान की निश्चयात्मकता और भावना की दृढ़ता पर टिकता है। परंतु असत् के निरूपित करने के लिए ज्ञान अक्षम है। वह अधिक से अधिक संदेह का आँचल पकड़ कर कुछ दूर तक बढ़ सकता है। केवल भावना ही निश्चय के साथ उसे सम्हाल लेती है। असत् को सत् करने के इसी प्रयास को हम रहस्यवाद कह सकते हैं।

---

*—सहायक ग्रंथ

(१) Mysticism in English Literature, by C. F. E. Spurgeon.

(२) Mysticism in Kabir.

(३) A Hundred poems of Kabir, by Rabindranath Tagore.

(४) Mysticism, by Voungham.

(५) रहस्यवाद—लेखक, पं० रामचन्द्र शुक्ल।

(६) जायसी ग्रंथावली—लेखक, पं० रामचन्द्र शुक्ल।

(७) कबीर—लेखक, बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए०।

(८) डा० भगवानदास, एनीबेसेंट आदि द्वारा लिखित रहस्यवाद के संबंध में अन्य लेख।

हिंदी-संसार में रहस्यवाद के संबंध में विचित्र-विचित्र धारणायें व्यक्त की जा रही हैं। ऐसे ऐसे कवियों को रहस्यवादी कवियों की कोटि में ढकेला जा रहा है जो रहस्यवाद से कोसों दूर हैं। इस युग की हिंदी-कविता एक विशेष परिपाटी का आविर्भाव कर रही है। हिंदी में यह सर्वथा नई वस्तु है। भाव-जटिलता और भाषा-क्लिष्टत्व उसके प्रमुख अंग हैं। इस अराजकता को देखकर साधारण आलोचक उसे सहसा रहस्यवादी कविता कहने लगता है। जहाँ कहीं कठिनता दिखाई पड़ी वहीं रहस्यवाद आ गया। वास्तव में भाव-गंभीरता, भाषा-क्लिष्टत्व तथा विचार-जटिलता के कारण अभिव्यक्ति में जो दुरूहता आ जाती है, वह रहस्यवाद नहीं है, वरन् आधेय के अपूर्ण प्रवेश तथा आधार की अक्षमता और तथ्य के आलोक की लपक-मात्र के कारण जो अभिव्यक्ति में निर्देश-मात्र आ जाता है, उसे रहस्यवाद कह सकते हैं।

रहस्यवाद के वास्तविक स्वरूप के संबंध में हिंदी में जो भ्रम फैल रहा है उसके निराकरण की आवश्यकता है और उसके सच्चे स्वरूप की जानकारी भी अपेक्षित है। कुछ लेखों को छोड़-कर इसके संबंध में जो कुछ भी लिखा गया है, वह बहुधा अस्पष्ट और पक्षपात-युक्त है। अर्वाचीन लेखकों ने रहस्यवाद का स्वरूप समझाने का चाहे कष्ट न उठाया हो, किंतु रहस्यवाद की प्रशंसा के पुल अवश्य बाँधे हैं। उनके लेख आलोचनात्मक न होकर स्वयं रहस्यमय हो गए हैं, जिससे जिज्ञासु-मंडल तृप्त नहीं हो सका दूसरी ओर प्राचीनवादी लेखकों में कविता की नवीन प्रगति की अराजकता का इतना भय समा गया है कि वे सारी प्राचीन पद्धति को विलीन हुई देखते हैं। अतएव नवीन विच्छृंखलता के अनादर की भावना उनमें जितनी ही वेगवती होती जाती है, उतना ही वे रहस्यवाद को कोसने लगे हैं। रहस्यवाद के विकृत स्वरूप को

बुरा न कहकर रहस्यवाद को ही बुरा कहने लगे हैं। हिन्दी-संसार रहस्यवाद के विवाद के उभय पक्ष के लेखकों से भली भाँति परिचित है।

इस विषय में अभी कोई अच्छी पुस्तक हिन्दी में देखने में नहीं आई। हाँ, पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ने एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी है। कदाचित् अपने विचारों को लेख-रूप में व्यक्त करने के प्रयास में ही लेख का आकार बढ़ गया है और उसका रूप विशद बन गया है। पं० रामचन्द्रजी शुक्ल एक निर्मल-बुद्धि समालोचक हैं। रहस्यवाद के विवाद में उन्होंने काफ़ी भाग लिया है। विषय निष्पक्ष विवाद से सुबोध अवश्य होता है। शुक्लजी हिंदी-कविता की नवीन कही जाने वाली प्रगति के आरंभ से ही विरोधी रहे हैं और बहुत सीमा तक उनका विरोध उपयोगी और सार-युक्त सिद्ध हुआ है। उन्होंने स्थान-स्थान पर इस प्रगति के प्रतिकूल कहा और गालियाँ भी खाई हैं। उनके 'रहस्यवाद' में इस विषय की सुंदर और मार्मिक विवेचना की गई है। अँगरेजी कवियों में कौन रहस्यवादी है और कौन नहीं इसके संबंध में हिंदी भाषा-भाषियों में बड़ा भ्रम फैला हुआ था। इसका समाधान बहुत कुछ उक्त ग्रंथ से हो जाता है। वास्तव में अंगरेजी कवियों की ही उक्त ग्रंथ में चर्चा है और रहस्यवाद के संबध में पाश्चात्य विद्वानों के विचारों की समीक्षा है। परंतु शुक्लजी के ग्रंथ को पढ़ जाने के पश्चात् यही कहना पड़ता है कि ग्रंथ कुछ एकंगापन लिये हुए है। उन विचारों के साथ लेखक की अधिक सहानुभूति ज्ञात होती है जो रहस्यवाद के प्रतिकूल हैं। निष्पक्ष से निष्पक्ष लेखक की आलोचना में एकंगेपन की निर्बल उपस्थिति इससे अधिक और क्या प्रकट कर सकती है कि लेखक के मस्तिष्क के किसी छोटे कोने में प्राचीन पक्षपात अभी विद्यमान

है। शुक्लजी के लिये भी कदाचित् यही संभव हो सकता है। परंतु वैसे शुक्लजी में कभी इस दुर्बलता के दर्शन नहीं होते।

हिंदी-रहस्यवाद का वर्तमान स्वरूप पश्चिमीय प्रतिकृति है, यह अब सभी मानते हैं। शुक्लजी का भी यही मत है। हिंदी का रहस्यवाद शब्द अँगरेजी के मिस्टीसिज़्म का विवाची है। छायावाद से रहस्यवाद की अभि-व्यंजना नहीं होती। अँगरेजी के प्रसिद्ध कोष में रहस्यवादी उस व्यक्ति को कहते हैं जिसे ज्ञानातीत सत्य के आध्यात्मिक निरूपण में विश्वास हो। कभी-कभी अध्यात्म-संबंधी विचित्र धारणा के उपहास के लिये और कभी कभी ईश्वर और संसार-संबंधी असाधारण विवेचना का मखौल उड़ाने के लिये भी रहस्यवाद का प्रयोग किया जाता है। रहस्यवाद के व्यापक स्वरूप में संसार की बड़ी-बड़ी विभूतियाँ और छोटी-से छोटी हस्तियाँ सम्मिलित हैं। संसार के बड़े-से-बड़े व्यक्तियों की कृतियों में कभी-कभी रहस्यवाद की वृत्ति पाई जाती हैं और धूर्त से-धूर्त की प्रवंचना में भी उसका आभास दिखाई देता है।

सुख की आशा करना और उसके लिये सतत प्रयत्न करना मानव-समाज का आदिम व्यवसाय है। चिंताओं की शांति ही सुख का कारण है। ईश्वर और संसार का संबंध, संसार की क्रिया शीलता का रहस्य, उसकी उत्पत्ति और लय का इतिहास सारे संसार को आदि काल से मुग्ध किए हैं इस मुग्धता में विस्मय है और विस्मय में उद्वेगाग्नि है। इसीलिये चित्त क्षुब्ध और अशांत रहता है। क्षोभ और अशांति में सुख का ह्रास होता है। अतएव सुखापेक्षी नर-समाज का चिंतनशील समुदाय इस गुत्थी को सुलझाने के लिये अपनी सारी शक्ति अनंत काल से व्यय कर रहा है। मनुष्य ने अपना सारा ज्ञान उस अखंड सत्ता की खोज में लगा दिया, जिसका क्रियमाण स्वरूप यह सारा विश्व है। ससीम ज्ञान असीम ज्ञान की खोज का अभ्यास अनंत काल से

कर रहा है, परंतु उसमें शांति नहीं मिली। अतएव असीम हृदय के अन्वेषण के लिये ससीम हृदय उत्कंठा से निकला। यही रहस्यवाद का मूल उद्गम है। चिंतन-जगत् में जो ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद है, भावना-जगत् में वही रहस्यवाद कहलाता है। भाव-प्राबल्य-जन्यतद्रूपशीलता में रहस्यवाद के प्रादुर्भाव का रहस्य है।

भारतीय ग्रंथों में रहस्यवाद की सुंदर व्याख्या गीता के अधोलिखित श्लोक में मिलती है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ;
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।

परंतु काव्य-गत रहस्यवाद का संबंध ज्ञान से न होकर हृदय से है। रहस्यवाद की विवेचना में बोन साहब ने उसे तीन स्थितियों में अवस्थित किया है—(१) दैवी भाव (२) दैवी ज्ञान तथा (३) दैवी उपासना। वास्तव में काव्य-गृहीत रहस्यवाद पहली स्थिति की अभिव्यक्ति है। दूसरी और तीसरी से उसका संबंध उतना नहीं है। मानसिक विकास द्वारा ज्ञान से ऐक्य अनुभव करना दूसरी बात है और भावातिरेक द्वारा हृदय से भावात्मक ऐक्य स्थापित करना दूसरी बात है। काव्य- स्वीकृत रहस्यवाद का संबंध दूसरे प्रकार से है, पहले प्रकार से नहीं। यद्यपि अंततः दोनों का आशय एक ही है, परंतु साहित्य में दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं। एक को दर्शन के और दूसरे को काव्य के अंतर्गत रक्खा गया है। जहाँ-जहाँ एक का स्थान दूसरे ने लिया है, वहाँ-वहाँ अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हो गई है। महाभारत-काव्य में गीता का समावेश उसके दार्शनिक मूल्य को बहुत कुछ कम कर देता है और काव्य का प्रत्यक्ष विरोध होने से गीता के विचारों पर अतार्किक होने का दोष मढ़ा जाता है। इसी से गीता से भिन्न-भिन्न मत चल निकले हैं। इसी प्रकार कबीर महोदय ने विशिष्ट दार्शनिक 'वाद' को पद्य के कटहरे में बंद करने का कई स्थानों में प्रयत्न किया है। अएतव

उनका काव्य कहीं-कहीं बिलकुल नीरस हो गया है। उसके उदाहरण आगे दिए जायँगे। दूसरी ओर यदि कोई हृदय के भावों को अथवा तद्रूपत्व के भावावेश को दार्शनिक भाषा में लिखेगा, तो उसका महत्त्व आधा भी न रहेगा। गीता में भगवान् के विराट स्वरूप की व्याख्या में भी रहस्यवाद की भावना उपस्थित है।

रहस्यवाद वास्तव में कोई 'वाद' नहीं है। यह एक प्रकार की मानसिक स्थिति है। भिन्न-भिन्न रहस्यवादियों ने समूचे तथ्य का कोई-न-कोई अंग - निरूपण करके सत्य की अभिव्यक्ति में कुछ न कुछ नई बात कही है। उस महान् अखंड शक्ति के आलोक का आभास भक्तजनों को पृथक्-पृथक् कोण से मिला है*। उनकी अपनी मनो-वृत्तियों ने उसका रूप सँवारा है। यही कारण है कि पहुँचे हुए संतों के अनुभव एक दूसरे से भिन्न और कहीं-कहीं परस्पर विरोधी दिखाई देते हैं। अँगरेज़ी कवि वर्ड्सवर्थ को दैवी अभिव्यक्ति का साक्षात्कार प्रकृति के सान्निध्य से प्राप्त हुआ था और इसीलिये वह प्रकृति का उपासक था; परंतु वहाँ प्रकृति का स्थूल स्वरूप दूसरे रहस्यवाद कवि ब्लेक के लिये अखंड सत्ता के अवगत करने में विरोध उपस्थित करता था। परंतु यह प्रत्यक्ष विरोध रहने पर भी प्रत्येक रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति की तीव्रता में बड़ा साम्य है। इसी को आलोचकों ने प्रत्यक्ष विरोध में आभ्यंतरिक साम्य कहा है।

'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' के अनुसार जीव और ईश्वर, प्रकृति और पुरुष में कोई द्वैतभाव नहीं। इस मानसिक ज्ञान को

---

* इस भाव की व्यंजना नीचे दिए हुए रूपक द्वारा सूफ़ी कवियों ने भली भाँति कराने का प्रयास किया है—

सुनि हस्ती कर नाँव, अँधरन टोवा धाय कै ;
जेहि टोवा जेहि ठाँव, मुहमद सो तैसे कहा।

—मलिक मुहम्मद जायसी

भावना के क्षेत्र में रहस्यवादी कवि अभिव्यक्त करता है। परंतु अद्वैत की पूर्ण भावना की प्रतिष्ठा के लिये द्वैत का परोक्ष रूप से समर्थन हो जाता है। गेय और ध्येय की सार्थकता ज्ञाता और ध्याता की उपस्थिति से ही हो सकती है। अतएव यद्यपि इन उभय पक्षों का ऐक्य रहस्यवाद की रागात्मिका प्रवृत्ति का चरम लक्ष्य है, तथापि उपासक और उपास्य, उभय पक्षों को आरंभ में अवश्य मानना पड़ता है। यह द्वैत उपासना अथवा रहस्यमयी भावना के स्फुरण का पहला सोपान है और अद्वैत की रागात्मिका प्रतिष्ठा उसका अंतिम स्वरूप है। इस सूक्ष्म विश्लेषण तक न पहुँचने वाले व्यक्तियों को इसीलिये उपर्युक्त द्वैत में अद्वैत और अद्वैत में द्वैत के सिद्धांत में विरोध दिखाई पड़ता है।

वास्तव में रहस्यवादी मानता है कि दैवी स्फूर्ति का कोई-न-कोई स्फुलिंग जीव के निर्माण में निहित है। उसी स्फुलिंग द्वारा—उसी देवांश द्वारा—वह उस अखंड सत्ता की अनुभूति कर सकता है। रहस्यवादी का यह विश्वास है कि जिस प्रकार बुद्धि द्वारा मनुष्य भौतिक पदार्थों का निरूपण करता है, उसी प्रकार अध्यात्म भावना द्वारा मनुष्य रहस्यमय अखंड सत्ता का अनुभव कर सकता है, परंतु बुद्धि और भावना के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। जिस प्रकार बुद्धि के व्यवसाय में, तार्किक विश्लेषण में, भावावेश से काम नहीं चलता; उसी प्रकार भावना के क्षेत्र में बुद्धि का प्रयोग व्यर्थ है। रहस्यवादी उसे मूर्ख समझता है जो अध्यात्म निरूपण में बुद्धि का प्रयोग करता है।

यह करनी का भेद है, नाहीं बुद्धि-विचार
बुद्धि छोड़ करनी करौ, तौ पाओ कछु सार*।

—कबीर

---

* इस पद में 'करनी' शब्द में ज्ञान-कांड और कर्म-कांड की सापेक्षिक विवेचना नहीं है। 'करनी' शब्द वेदोक्त कर्मकांड के लिये नहीं आया

बाह्य पदार्थों का ज्ञान हम उनकी ओर देख-कर अन्य पदार्थों के साम्य और वैषम्य द्वारा निर्धारित करते हैं, परंतु आभ्यंतरिक परिज्ञान की उपलब्धि मनुष्य को केवल तद्रूप होने से ही प्राप्त हो सकती है। एक रहस्यवादी के लिये जीवन प्रतिक्षण उन्नति करता चला जा रहा है। नए-नए खंडों का भावमय अनुभव-उद्घाटन पग-पग पर चकित करता है। रहस्य का उद्घाटन रहस्य को और भी रहस्यमय बनाता चला जाता है।

रहस्यवादी जीव के विभिन्न चित्रों और जन्मांतर के विभिन्न संस्करणों के समूचे संकलन को एक साथ तारतम्य में देखता है। इसीलिये उसे जन्मांतर में विश्वास करना पड़ता है। आत्मा की नित्यता उसके रहस्यमय भाव-प्रसाद की नींव है। "न जायते म्रियते वा कदाचन्" अथवा "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" रहस्यवादी के अद्वैतवाद की पुष्टि ही करते हैं। "अजो नित्यः" "शाश्वतोऽयं पुराणो" में उसका अचल विश्वास रहता है। इस प्रकार के जन्मांतर में विश्वास कोई जाति विशेष के रहस्यवादियों तक ही सीमित नहीं है। जन्मांतर-सिद्धांत के घोर विरोधी ईसाइयों * में

है संत लोग वास्तव में कर्मकांड-विरोधी रहे हैं। 'करनी' से यहाँ 'सुरत-शब्द' अभ्यास से तात्पर्य है। यह एक विशेष प्रकार का साधन है, जिसके द्वारा आध्यात्मिक निरूपण का विधान विवक्षित किया गया है। अर्थात् 'करनी' शब्द से संत उस दैनिक अभ्यास की ओर इंगित करता है, जिसके द्वारा अखंड ज्योति का सक्षात्कार होता है।

* Our birth is but a sleep and forgetting.
The soul that rises with us, our life star,
Hath had elsewhere its setting.
But like trailing clouds of glory do we come.

—*Wordsworth.*

अर्थ—हमारा जन्म एक प्रकार की निद्रा और विस्मरण है। जो

भी रहस्यवादी कवि रहते हैं। जन्मजन्मांतरवाद के कट्टर विरोधी मुसल्मान-धर्म के पोषक कविवर मलिक मुहम्मद जायसी ने भी सूफ़ी रहस्यवाद होने के कारण जन्मांतरवाद की आभा दिखलाई है। 'पद्मावत' का सुआ' पूर्व जन्म का ब्राह्मण था। कबीर ने तो खुल्लम-खुल्ला जन्मांतर माना है* । स्वयं अपने जन्म के लिये उन्होंने कल्पना की है—

पुरब जन्म हम बाम्हन होते ओछ्छे करम तप हीना :
रामदेव की सेवा चूको, पकरि जुलाहा कीना।

*   *   *

दिवाने मन, भजन बिना दुख पैहो।
पहले जनम भूत का पैहो, सात जनम पछितैहो ;
काँटा पर कै पानी पैहो, प्यासन ही मरि जैहो।
दूजा जन्म सुआ का पैहो, बाग बसेरा लैहो ;
टूटे पंख, बाज मँड़राने, अधफड़ प्रान गँवैहो।

आत्मा हमारे साथ उठता वहाँ हमारा जीवन-नक्षत्र है—वह अन्यत्र कहीं अवश्य डूबा होगा। हम देवत्व के प्रकाश से लिपटे हुए जन्म लेते हैं।

*इसका अर्थ यह नहीं है कि कबीर महोदय ने जन्मांतरवाद के प्रतिकूल कहीं नहीं लिखा—

गाँठी बाँध खरच न पठयों, बहुरि कियो नहिं फेरा;
बीबी बाहर महल में, बीच पिया का डेरा।

*   *   *

अरे मन, समझ के लाद लदनियाँ।
सौदा करु तो यहिं करु भाई आगे हाट न बनियाँ ;
पानी पी तो यहीं पी भाई, आगे देस निपनियाँ।

*   *   *

बाजीगर के बानर होइहो, लड़िकन नाच नचैहो ;
ऊँच-नीच से हाथ पसरिहो, माँगे भीख न पैहो ।
तेली के घर बैला होइहो, आँखिन ढाँप ढपैहो ;
कोस पचास घरै में चलिहो, बाहर होन न पैहो ।
पँचवाँ जनम ऊँट का पैहो, बिन तौले बोझ लदैहो ;
बैठे से तौ उठै न पइहो घुरचि-घुरचि मरि जैहो ।
धोबी के घर गदहा होइहो, कटी घास न पैहो ;
लादि लादि आपहु चढ़ि बैठो लै घाटे पहुँचैहो ।
पंछी माँ तौ कौवा होइहो, करर-करर गुहरैहो ;
उड़के जाइ बैठ मैले थल गहिरे चोंच लगैहो ।
संत नाम की टेर न करिहो मन-ही-मन पछितैहो ;
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, नरक निसानी पैहो ।

इसी प्रकार सूफ़ी कवि जलालुद्दीन रूमी, हाफ़िज़, जामी, हल्लाज इत्यादि मुसलमानों में भी आत्मा को पुनर्भावना के चित्र मिलेंगे। भारतवर्ष के संत कवि तो थियासोफिस्ट लोगों की भाँति जन्मांतर से विश्वास के साथ-साथ विकासवाद को भी कहीं-कहीं स्वीकार करते दिखाई देते हैं—

जन्म एक गुरु-भक्ति कर, जन्म दूसरे नाम ;
जन्म तीसरे मुक्ति पर, चौथे में निरवान ।

परन्तु यह सार्वभौमिक सिद्धांत नहीं है कि प्रत्येक रहस्यवादी जन्मांतर को माने ही। अँगरेज़ी-साहित्य में इसके अपवाद उपस्थित हैं। धर्म-प्रचारक, विज्ञानवेत्ता, तार्किक और दार्शनिक तथा रहस्यवादी में बड़ा भारी अंतर है। इस विभिन्नता का थोड़ा-सा दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। विज्ञानवेत्ता की भाँति रहस्यवादी रहस्योद्घाटन के लिये बुद्धि से काम न लेकर अपनी निजी भावना और आंतरिक प्रेरणा का प्रयोग करता है। दर्शनकार

नवीन शोध को सीधे सामने से लेकर अभिव्यक्त करता है। रहस्य-वादी उसका परोक्ष निदर्शन करता है। वह अनुभव करता है कि उसने अखंड की ज्योति की लपक देखी है; उसने अनहद शब्द सुना है; उसने अमृत-कुंड के छींटों से स्नान किया है।

झरत अमिय-रस भरत ताल जहँ, शब्द उठै असमानी हो;
सरिता उमड़ि सिंधु कह सोकै, नहीं कछु जात बखानी हो।

परंतु दूसरे उस पर विश्वास नहीं करते। अंधों की बस्ती में जिस प्रकार नेत्रवालों की कोई नहीं सुनता और उसकी बातों पर विश्वास नहीं किया जाता, उसी प्रकार असंस्कृत व्यक्तियों की भी स्थिति होती है। रहस्यवादी भावना सब में नहीं होती। ऐसे लोग तो कदाचित् बहुत मिल सकते हैं, जिन्हें मनोवेगमय क्षणों में अस्पष्ट और कुंठित रूप में अखंड सत्ता की झलक मिली है, और मिलती है, परंतु ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम होंगे, जो इस अस्पष्ट और क्षणिक झलक को अभ्यास द्वारा अपनी रहस्यमयी भावना के लिये चिरस्थायी आलंबन बना लें, और अंततः अभ्यास द्वारा भाव के उस चरम लोक तक पहुँच जायँ, जहाँ पहुँचकर आध्यात्मिक आलोक से पुनर्जीवित होकर संसार की प्रत्येक वस्तु हस्तामलकवत् देखने लगें।*

साधारण प्रकार से देखने में रहस्यवादी साधारण प्रणाली के प्रतिकूल चलता है। वह पहले विश्वास करता है और बाद में जानता है। वैज्ञानिक प्रणाली के यह प्रतिकूल है। परंतु तर्क-वितर्क की प्रणाली को रहस्यवादी व्यर्थ मानता है। अपने अनुभव की यथेष्ट व्यंजना उसे परमावश्यक है।

---

* That serene and blessed mood.

* * *

We see into the life of things.

—*Wordsworth*

भाषा भावों के विकास में हमेशा पीछे रहती है। भाव की उत्पत्ति के बाद तद्रूप भाषा गढ़ी जाती है। भाषा चाहे कितनी ही विकसित क्यों न हो, भावों की यथेष्ट व्यंजना संभव नहीं। इसीलिये रहस्यवादी की कविताओं में प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य रूप में पाया जाता है। 'उपमा' के इतिहास से भी स्पष्ट है कि शब्द-संकोच के निराकरण के लिये ही 'अलंकार' का प्रयोग होता है। 'सुराही की गर्दन' में 'गर्दन' शब्द उपमा-स्वरूप ही मानव-शरीर-संगठन से गृहीत है। घर के बाहर कड़ी धूप की गर्मी की भाव तीव्रता की उपयुक्त व्यंजना जब वक्ता इस वाक्य में कि 'गर्मी बहुत है', अनुभव नहीं करता है और यथेष्ट व्यंजना के लिये जब विह्वल होता है, तब मस्तिष्क के द्वार खटखटाने पर उसे यह सूझ पड़ता है कि धूप नहीं है, यह तो आग बरस रही है। यही अपह्नुति अलंकार हो जाता है। यद्यपि यह स्थूल रूप से वस्तु-प्रतीक का उदाहरण नहीं है, जैसा पहला उदाहरण—अर्थात् सुराही की 'गर्दन'—है, परन्तु यह भाव प्रतीक का सुंदर दृष्टांत है।

रहस्यवादियों का इन प्रतीकों के बिना काम ही नहीं चल सकता है। उस अखंड ज्योति का उपयुक्त व्यंजना के लिये संसार का कोई भाषा पर्याप्त नहीं है। अतएव सांकेतिक प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य है। रहस्योद्घाटन की अभिव्यक्ति कितनी कठिन है, इसका अनुमान केवल एक ही बात में हो सकता है कि लगभग सभी संत कवियों ने उस अखंड ज्योति के साक्षात्कार के प्राप्त सुख की अभिव्यक्ति, में गूँगे के खाए हुए गुड़' की उपमा दी है कारण यह कि सभी कवियों की व्यंजना की कठिनता एक-सी है। परंपरागत पुराण-गाथाओं द्वारा भी अभिव्यक्ति-प्रणाली में सहायता मिलती है। अतएव परम्परागत पुराण-गाथाओं का आश्रय और प्रतीक-प्रयोग दोनों रहस्यवाद के अभिव्यंजन-पक्ष के अनिवार्य अंग हैं।

प्रतीक-प्रयोग की भावना के अंतर्गत संसार के ऐक्य की भावना निहित है। इसीलिये रहस्यवादी उसे अपनाता है। वह विश्वास करता है कि सब पदार्थों में तिरोहित साम्य है। मानवीय प्रेम में दैवी प्रेम का अध्याहार देखता है। तथा संकेत द्वारा उसमें दैवी प्रेम का आरोप करता है। प्रकृति में गिरती हुई पत्तियों को देखकर मानव-समाज के ध्वंस का रहस्य सामने आ जाता है। हिलते हुए वृक्ष से प्रकंपित वृद्ध शरीर का चित्र उपस्थित हो जाता है।

बाढ़ी आवत देखि करि तरुवर डोलन लाग ;
हमैं कटे की कछु नहीं, पंखेरू घर भाग।

—कबीर

प्रतीक-प्रयोग से अभिव्यक्ति में शक्ति आ जाती है। दैनिक जीवन में दांपत्य प्रेम अत्यंत तीव्र और व्यापक है। समूचे जीवन-क्षेत्र में उसका प्रभाव अद्वितीय है। इसीलिये कबीर* जायसी-

---

* कुछ उदाहरण कबीर के नीचे दिए जाते हैं—

(१) नैहर में दाग लगाइ आई चुनरी।

(२) मेरी चुनरी में परिगो दाग पिया !

(३) पिय, ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली। ऊँची अटरिया, जरद किनरिया, लगी नाम की डोरिया।

(४) का लै नैनी ससुर घर ऐबो।

(५) आयो दिन गौने को मन होत हुलास।

(६) खेल रे नैहरवाँ दिन चार।

(७) हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया।

(८) तोको पीव मिलेंगे, घूँघट कर पट खोल रे
घट घट में वह साईं रमता, कटुक बचन मत बोल।

(९) मिलना कठिन है, कैसे मिलोंगी पिय जाय
समुझि सोचि पग धरौं जतन से बार-बार डिगि जाय।

मीरा, दादू, दरिया इत्यादि संतों में उसकी भरमार है। वास्तव में दांपत्य प्रेम के ही विशद मनोविकार द्वारा किसी अंश में रहस्य-भावमय अखंड स्वरूप के दोनों पक्षों—संयोग और विप्रलंभ—की कुछ-न-कुछ अभिव्यंजना हो सकती है, अन्यथा असंभव है।

दैवी आलोक की ओर ससीम प्रकाश की लपक—उसके वेग और प्रयास की आतुरता विप्रलंभ दांपत्य रति द्वारा यावत्किंचित् अभिव्यक्त की जा सकती है। तथा ससीम और असीम का मेल—आप्त सुख की व्याख्या—संभोग दांपत्य रति की यथेष्ट व्यंजना से ही किसी अंश में बखाना जा सकता है।

गौने जाना, सिलसिली गैल में चलना, विरह में तड़पना, सब प्रतीक ही है।

रहस्यवाद तथ्य के आलोक का मानसिक प्रतिवर्तन है। ऊपर जैसा कहा गया है, रहस्यवाद के दो व्यवसाय होते हैं—अखंड सत्ता का संपर्क प्राप्त करने के लिये 'वहाँ' तक पहुँचना और नीचे उतरकर अपने अनुभव की अभिव्यंजना करना। कुछ ऐसे रहस्य-वादी हैं, जो सारे निगूढ़ रहस्यों की क्रमशील निबंधना का साक्षात्कार करते और उसे ज्यों-की-त्यों व्यक्त करते हैं। कबीर का ऐसा

ऊँची गैल, राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय।
लोक-लाज कुल की मरजादा देखत ही सकुचाय।

(१०) दुलहिन गाओ मंगलचार, हमारे घर आए राम भरतार।

(११) बालम, आओ हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया के हरे।
सब कोई कहैं तुम्हारी नारी, मोको यह संदेह रे।
अन्न न भावे, नींद न भावै, गृह बन धरै न धीर रे।
ज्यों कामी को कामिन प्यारी ज्यों प्यासे को नीर रे।
है कोइ ऐसा पर उपकारी पिय को कहै सुनाय रे।
अब तो बेहाल कबीर भए हैं बिन देखे जिय जाय रे।

ही रहस्यवादी कहना चाहिये। इस साक्षात्कार की उपलब्धि की तीन अवस्थाएँ हैं—पूर्वतद्रूप, तद्रूप तथा परतद्रूप ❀।

इस लेख में कबीर के दृष्टांतों से बहुत सहायता ली गई है, अतएव यह अनुचित न होगा, यदि यहाँ पर बतला दिया जाय

---

(१२) चली मैं खोज में पी की ; मिटी नहिं सोच यह जी की।
रहे नित पास ही मेरे , न पाउँ यार को हेरे।
बिकल चहुँ ओर को धाऊँ ; तबहुँ नहिं कंत को पाऊं।
धरौं केहि भाँति सों धीरा ; गयो गिर हाथ से हीरा।
कटी जब रैन की झाईं ; लख्यो तब गगन में साईं।
कबीरा शब्द कहि भासा ; नयन में यार को बासा।

(१३) छोड़े गेह - नेह लगि तुमसों भइ चरनन लवलीन ;
तालाबेलि होत घर भीतर, जैसे जल बिन मीन।
दिवस रैन भूख नहिं निद्रा, घर-अँगना न सुहाय ;
सेजरिया बैरिन भइ हमको, जागत रैन बिहाय।
हम तो तुम्हारी दासी सजना, तुम हमारे भरतार ;
दीनदयाल दया करि आओ, समरथ सिरजनहार।
कै हम प्राण तजत हैं प्यारे, कै अपना करि लेव ;
दास कबीर बिरह अति बाढ़्यो, हमको दरसन देव।

*　　*　　*

आज भरम हम जाना सोऊ ;
जस पियार पिव और न कोऊ।—जायसी

❀ तद्रूप होने के प्रयास की आदिम अवस्था से लेकर तद्रूप होने तक की अवस्था को पूर्व-तद्रूप अवस्था कहते हैं। तन्मय हो जाने की अवस्था को तद्रूप अवस्था कहते हैं : तन्मय होने के परे की अवस्था परतद्रूप अवस्था कहते हैं। अंगरेज़ी में Becoming, being तथा more than being से यही बातें बताई गई हैं।

कि कबीर साहब का रहस्यवाद देशी और विदेशी रहस्यवादों से तीन बातों में भिन्न है। उनकी थोड़ी चर्चा नीचे की जाती है—

१—उपासना के नंगे स्वरूप का कबीर के रहस्यवाद में अभाव है। इसीलिये उनका रहस्यवाद कभी विकृत नहीं हुआ। रहस्यवादी के लिये इसकी आशंका सदैव है कि कहीं रहस्यमयी भावना का आलंबन भद्दी मूर्ति-पूजा और बेढंगी हुस्नपरस्ती न हो जाय।

२—एकेश्वरवाद का ही विकृत स्वरूप पैगंबरवाद है। आत्मा का अस्वीकार जितना इस वाद से होता है, उतना किसी अन्य से नहीं। जायसी पैगंबरवाद से सूफी होते हुए भी, चिपटे रहे। इसीलिये उनके विचार उतने उदार नहीं दिखाई देते हैं, जितने और रहस्यवादियों के हैं। कबीर की फटकार ने उनके रहस्यवाद को इस दोष से बचा लिया है।

३—भारतीय वेदांत में परोक्ष-चिंतन का व्यवसाय इतनी सीमा तक पहुँच गया था कि भावपक्ष बिल्कुल निर्जीव-सा हो गया है। यह एक बड़ी भारी त्रुटि है। कबीर का रहस्यवाद अधिकतर सरस है, और रागात्मिका वृत्ति को चरम भाव-लोक तक पहुँचाने की क्षमता रखता है। वह निर्जीव चिंतन प्रणाली के अनुसरण से बहुत अंशों में बाल-बाल बच गया है। यही उस की विशेषता है

इसी संबंध में एक बात और समझ लेने की है। नाटक में रहस्यवाद की उद्भावना संसार में कहीं नहीं हुई *। शेक्सपियर

---

*यह उक्ति आजकल के नाटकों के लिये नहीं है। गत ५० वर्षों से सभी देशों की प्रगति रहस्यवाद की ओर झुकी दिखाई देती है। हाँ जिन देशों में मार्क्सवाद अथवा अन्य किसी प्रकार के भौतिकवाद की भावना वेग सम्पन्न होती है वहाँ रहस्यवाद दब जाता है। हिंदी, में जयशंकर प्रसाद के नाटक रहस्यवाद के प्रभाव के प्रतिनिधि हैं। पूर्ण रूप से उनके रहस्यवादी न होने पर भी नाटकों के भीतर आई हुई उनकी कविताओं में और कहीं कहीं गद्य में भी रहस्यमयी भावना की भरमार है।

आदि नाटककार रहस्यवादी नहीं हैं। रहस्यमयी भावनाएँ दर्शकों के लिये सुबोध नहीं कही जा सकतीं। शेक्सपियर की कृतियों में, कहीं कहीं पर, अध्यात्मवाद की अभिव्यक्ति अवश्य है। अध्यात्मवादी और रहस्यवादी में थोड़ा भेद है। अध्यात्मवादी व्यक्ति क्रिया-कलाप और गत्यात्मक स्वरूप-विधान के कारण की खोज में चिंतित रहता है। परंतु रहस्यवादी ऐसा अनुभव करता है कि वह प्रत्येक तथ्य के अंतिम निष्कर्ष को जानता है। हाँ, रहस्यवादियों में भी उपासना-विधान में विभिन्नता हो सकती है, और उपासना के लिगों में अध्यात्मवाद से साम्य हो सकता है। हाफ़िज़, जायसी, कबीर, मीरा तथा दादू इत्यादि ध्यान और प्रणिधान को महत्त्व देते हैं और रवींद्र, माखनलाल, सुमित्रानंदन पंत, जयशंकर प्रसाद तथा महादेवी वर्मा कल्पना के परिष्कार की ओर अधिक झुकते हैं; परंतु दोनों के चरम आदर्श आभ्यंतरिक शुद्धि में सहायक हैं।

इतिहास की भाँति युग के साथ-साथ किसी क्रम से रहस्यवाद का विकास नहीं हुआ। किसी तार्किक क्रम के कटहरे में रहस्यवाद की किसी स्थिति को बंद करना भी कठिन है। हाँ देश-काल की परिस्थितियों द्वारा स्वरूप में कुछ परिवर्त्तन अवश्य हो गया है। हिंदू-सिद्धांतानुकूल प्रकृति का आवरण, आत्मा के लिये, परोक्ष सत्ता के निरूपण में विघ्न उपस्थित करता है, और वह उसके परित्याग की भावना को अत्यंत तीव्रता के साथ व्यक्त करता है। सूफ़ी इस प्रतिरोध को नहीं मानता। सूफ़ी भावना से प्रेरित होकर कबीर ने लिखा है—

> मूए पीछे मत मिलो, कहै कबीरा राम ;
> सोना माटी मिल गया, फिर पारस केहि काम।

कबीर इस मिट्टी को—इस शरीर को—प्रतिबंध न मानकर उसे भी सोना बनाना चाहते हैं। इस महान् सत्ता के संपर्क से जड़

प्रकृति भी चैतन्यमयी हो सकती है। परंतु उसी समय तक, जब तक उसमें स्वयं उस महान् शक्ति का स्फुलिंग उपस्थित है। सारा विश्व एक बृहत् क्रिया-कलाप का गत्यात्मक पिंड है। उसी में अखंड सत्ता का हृदय—जिसे ईश्वर कह सकते हैं—है, और वही सारे स्वरूपों और नाम-रूपों की स्थिति, उद्गम और ध्वंस का केंद्र है। इसकी सम्यक् जानकारी अभ्यासी क्रमशः ही उपलब्ध कर सकता है। उसकी उन्नती उतनी ही गति से होगी, जितनी वेगवती उपासक की उपास्य-भावना होती है, और जितना अधिक उसका हृदय परिष्कृत है। उपासना का अभिप्राय स्थूल देववाद की भावना से प्रेरित होकर पूजा इत्यादि करने का नहीं है। स्थूल देववाद और रहस्यवाद का वही विरोध है जो उसका और ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद का है। देववाद चाहे एकेश्वरवाद के रूप में हो चाहे बहुदेवोपासना के रूप में बहुत से देवी-देवताओं को मानना अथवा उनके बाबा अकेले देवता को मानना एक ही बात है। बहु-देवोपासना अथवा एक देवोपासना में तत्वतः सिद्धांत का कोई भेद नहीं है। जिस जिस धर्म में बहुदेवोपासना अथवा एक देवोपासना की वृद्धि हुई है उस उस धर्म में बुद्धि का ह्रास हुआ है, क्योंकि जिज्ञासा-स्वातंत्र्य के ऐसे धर्म प्रतिकूल हो जाते हैं। यही कारण है कि इस्लाम धर्म में स्वतंत्र दर्शन-सिद्धांतों का प्रणयन नहीं हुआ।

कट्टर देववादियों के समक्ष अद्वैतवाद एक प्रकार का नास्तिक-वाद है। सूफ़ियों का, बिहिश्त को न मानना, बिहिश्त को केवल एक प्रकार की स्थिति विशेष समझना, "क़यामत के दिन रसूल मुहम्मद साहब बैठकर सबका निर्णय करेंगे" इस बात की मखौल उड़ाना, बुतों के सामने सिजदा करना, कट्टर पैग़ंबरवादी मुसलमानों की दृष्टि से काफ़िरों के ही काम हैं। सूफ़ी लोग एक प्रकार के रहस्य-वादी थे। इस्लाम के कट्टर देववाद के प्रतिकूल उन्होंने बहुत सी

कथायें प्रचलित कर रक्खी थीं। जैसे, क़यामत के दिन जब मुहम्मद साहब काफ़िरों को देखकर खुदा से कहेंगे—"ऐ खुदावंद! ये लोग कौन हैं, मैं नहीं जानता।" खुदा उस वक्त कहेगा—"ऐ मुहम्मद! जिनको तुमने पेश किया है, वे तुम्हें जानते हैं, मुझे नहीं जानते। पर ये लोग मुझे जानते हैं, तुम्हें नहीं जानते।" इसी प्रकार से ये लोग कट्टर मुसलमानों की मज़ाक उड़ाया करते थे। सूफ़ियों और पैग़ंबरी मुसलमानों में घोर संघर्ष हुआ। दोनों अपने अपने सिद्धांतों पर अधिक दृढ़ हो गए।

भारतवर्ष में अद्वैतवाद केवल चिंतन-जगत् तक ही रहा। भाव जगत में इसकी कुछ झलक उपनिषदों में अवश्य मिलती है, वैसे सारा संस्कृत-काव्य-साहित्य रहस्यवाद से दूर है। यह अवश्य है कि देश की सुख-समृद्धि से मनुष्य बाह्यमुखी रहता है, परंतु जिस भारतवर्ष में बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों ने अपनी अंतर्दृष्टि के पैनेपन से संसार को चकित कर रक्खा है, वह रहस्यवाद की अभिव्यक्ति से बचा रहे, यह विचारणीय अवश्य है। भारतीय धर्म में मूर्ति-पूजा की स्थापना करके भावना के लिये एक नई उर्वरा भूमि तैयार की गई। इसी में भक्तों का हृदय टिका। अव्यक्त और परोक्ष की लपक को स्थान न रहा। सारी भावना प्रतिमा में सम्मिलित कर दी गई। साहित्य के रागात्मक रूप—काव्य में—वह इसी रूप में स्वीकार किया गया। सारे संस्कृत-कवियों ने तथा कुछ प्राचीन और अर्वाचीन हिंदी-कवियों को छोड़कर, सारे हिंदी-कवियों ने, अपनी भावना के विस्तार के लिये भगवान् के साकार स्वरूप को ही आलंबन बनाया। इन अवतारी स्वरूपों पर जनता का हृदय भी टिका। चित्रों की सुंदर-से-सुंदर व्यंजना दिखाई देने लगी। हिंदी-कवियों में—कबीर, जायसी और कहीं-कहीं सूर में—जो रहस्यवाद की झलक यत्र-तत्र दिखाई देती है, वह सूफ़ीमत के प्रभाव के कारण। कहीं-कहीं तो कबीर को हिंदी की आरसी

वाणी कवींद्र रवींद्र के द्वारा अँगरेजी में पहुँचाई गई, और वह योरप होती हुई हिंदी के नवीन उन्नायकों द्वारा हिंदी ही में नए संस्करण में उपस्थित की गई।

वर्त्तमान युग में मनुष्य की रहस्यमयी उद्भावना को अधिक उत्तेजना मिली। इसके कई कारण हैं। इस लेख का विषय उनका विश्लेषण करना नहीं है। अखंड सत्ता की गुह्य शक्ति के प्रति रहस्य-भावना अनुभव करते-करते मनुष्य उस अवस्था तक पहुँच जाता है, जब वह प्रकृति के नाना रूपों में उसी परोक्ष-सत्ता का आभास देखता है। पुष्प की सुंदरता में, परमाणुओं की चमक में, बालक के मृदुहास में, कामिनी के चंचल नेत्र में, पृथक् पृथक् रूप में मनुष्य की रहस्यमयी भावना-वृत्ति को अद्वैत भाव में लीन होने के लिये पर्याप्त सामग्री रहती है। सूफ़ियों के लिये तो यह प्रसिद्ध ही है कि वे 'पर्दे-बुता' में 'नूरे-खुदा' देखते हैं, और बुतों के सामने सिजदा करना उतना ही पाक समझते हैं, जितना कि खुदा के सामने। इसीलिये कट्टर सुन्नियों ने सूफ़ियों को क़ाफिरों के दल में खदेड़ दिया।

व्यक्त स्वरूप पर अधिक अनुरक्ति ने सूफ़ियों में अंतर्दृष्टि के अभ्यास को मंद कर दिया। वे अधिकतर बाह्य सौंदर्य तक ही सीमित रहे। किसी-किसी परिस्थिति में उनके मनोभाव में विकार उत्पन्न हो गया, और सौंदर्य-बाहुल्य का प्रभाव मनोमुग्धकारी न रहकर स्थूल इंद्रियों में प्रकंपन उत्पन्न करने लगा। सौंदर्य हृदय में गड़ा तो, परंतु विस्मय परिपाक स्वरूप गत्यात्मक महान् अक्षय परोक्ष सौंदर्य आलोक की ओर न ले जाकर मांस-पिंड तक ही सीमित रह गया। इसी से लोग बिगड़े, और बुरी तरह बिगड़े। अमूर्त, गुण, दया, दाक्षिण्य, करुणा आदि के अमूर्त सौंदर्य तक उनकी पहुँच न हो सकी। मूर्त पदार्थों तक ही उनका मन टिका। करुणा-संपन्न व्यक्ति पर मुग्ध होकर सूफ़ी रहस्य-भावना में लीन

हो सकते थे, परंतु करुणा के अमूर्त गुण पर नहीं। हिंदी-साहित्य के वर्त्तमान रहस्यवादी कवियों ने किसी अंश तक इस कमी को पूरा किया है। जयशंकर प्रसाद के अजातशत्रु-नामक नाटक में करुणा की व्याख्या में कवि किस प्रकार रहस्यमय हो जाता है उसका उदाहरण नीचे दिया जाता है—

गोधूली के राग-पटल में स्नेहांचल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास-विलास दिखाती है;
निर्निमेष ताराओं में वह ओस बूंद भर लाती है।
निष्ठुर आदि सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से;
मानव का महत्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से।

रहस्यवाद का सूफ़ीवाद पर जो बुरा प्रभाव पड़ा, उसी से प्रेरित होकर सूफ़ी लोग अपने कर्तव्य की इतिश्री इसी में समझने लगे कि वे सुंदर स्त्री अथवा सुंदर बालक की ओर आँखें फाड़कर देखें। इसी से वे ऐहिक विलास में पड़ गए। और भारतीय प्रवाह पहले मूर्ति-पूजा की ओर झुका, और अब गुणों के सूक्ष्म सौंदर्य के आलोक में सच्चे रहस्यवाद का चित्र खड़ा कर रहा है।

सूफ़ीवाद में अद्वैतवाद का प्रवेश कैसे हुआ, इसका भी थोड़ा परिज्ञान कर लेने की आवश्यकता है। सूफ़ियों को अद्वैतवाद की ओर लाने वाले प्रभाव बाहर के थे। खलीफ़ा लोगों के युग में कई देशों के विद्वान् बग़दाद और बसरे में आते-जाते थे। भारतीयों का भी सम्पर्क अरबों से खूब था। आयुर्वेद, दर्शन, ज्योतिष, विज्ञान के अनुवाद अरबी में हो चुके थे। अरस्तू के सिद्धांतों से अरब लोग परिचित हो चुके थे और अरस्तु के दार्शनिक अद्वैत-वाद की लोगों में बड़ी चर्चा थी। वेदांत-केसरी का गर्जन भी आँखों से कानों तक पहुँच चुका था। मुहम्मद बिन कासिम के साथ आए हुए अरब सिंध में रह गए थे। उनकी संतति ब्राह्मणों से बड़े मेल-जोल से रहती थी। उन पर भारतीय संस्कृति का

बड़ा प्रभाव पड़ा। इनमें कुछ सूफ़ी भी थे। इन्होंने कुछ दिनों तक अद्वैतवाद की दीक्षा ब्राह्मणों से ग्रहण की। सिंध में आबू प्राणायाम की विधि जानते थे। उन्होंने ही 'फ़ना' की शिक्षा बयाजीन को दी। सूफ़ी-प्रवर दाराशिकोह के 'रिसाल-ए-हकनुमा' में व्यवहृत 'नासूत', मलकूत और 'जबरुत' तथा 'लाहूत' हमारे पारिभाषिक शब्द सत, चित, आनंद के पर्यायवाची हैं। दृश्य जगत् मिथ्या है, परंतु उसकी भावनाएँ अनित्य हैं, यही किसी अंश में वेदांत भी मानता है। योरपीय दार्शनिक बार्कले का कथन भी यही है। सूफ़ीवाद में अद्वैतवाद का चिंतन भावना-जगत् में निरूपित किया गया है। 'शरीअत,' 'तरीकत, हक़ीक़त' और 'मारफ़त' भारतीय व्यवधान में उपासना, कर्म और ज्ञान-मार्ग का रूपांतर हैं। सूफ़ियों में जलालुद्दीन रूमी, हल्लाज और हाफ़िज बड़े ऊँचे कवि थे।

मि० निकोलसन साहब ने सूफ़ीवाद पर एक मार्मिक ग्रंथ लिखा है। उनका कहना है कि आरंभ में सूफ़ीवाद के अनुयायी संत और दरवेस हुआ करते थे। शांति का पाठ इन्होंने ईसाइयों से सीखा। ज्ञानवादियों द्वारा दैवी शक्ति के आभ्यंतरिक ज्ञान की दीक्षा ली तथा बौद्धों के सकाश से उन्हें माला का प्रयोग आया। सूफ़ियों के चार विधानों के साधन नीचे दिए जाते है—

१. यात्रा।

१. आलोक और आनंद।

३. ज्ञान।

४. दैवी प्रेम।

सूफ़ियों में दो बातों का स्पष्ट स्वीकार उनके रहस्यवाद में न था। (१) परम सत्ता चित्-स्वरूप है। (२) जगत् अध्यात्म-मात्र है परंतु मलिक मुहम्मद जायसी ने इसको अपने 'पद्मावत' में काफ़ी स्पष्ट करने का प्रयास किया है—

देखी एक कौतुक हौं रहा, रहा अंतरपट पै नहिं अहा।
सरवर देख एक मैं कोई रहा, पानि पै पानि न होई।
सरग आय धरती पै छावा, रहा धरत पै धरत न पावा।

स्परजन-नामक एक विद्वान् अंगरेज लेखक ने रहस्यवाद पर एक ग्रंथ लिखा है, जिसमें उसने रहस्यवादी कवियों को उनकी चिंतन-प्रणाली के अनुसार कुछ कोटियों में विभाजित किया है। उनकी कुछ चर्चा नीचे दी जाती है—

(१) प्रेम और सौंदर्य संबंधी रहस्यवादी।

(२) दार्शनिक रहस्यवादी।

(३) धार्मिक और उपासक रहस्यवादी।

(४) प्रकृति-संबंधी रहस्यवादी।

पहली कोटी में अँगरेजी का प्रसिद्ध कवि शली आता है। हिंदी के प्राचीन कवियों में जायसी, कबीर और नवीन कवियों में 'भारतीय आत्मा' इस कोटि में आ सकते हैं।

दूसरी कोटि में अँगरेजी कवि ब्लैक और कहीं-कहीं ब्राउनिंग हैं। हिंदी में महादेवी वर्मा, जयशंकर प्रसादजी इस कोटि में आ सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी का 'केशव, कहि न जात का कहिए' विनयपत्रिका का प्रसिद्ध छंद इसी कोटि में आता है।

तीसरी कोटि में मीरा, निर्गुणिक कवि दादू इत्यादि और कहीं-कहीं प्रेमवादी जायसी तथा कुतबन आते हैं। तुलसीदास रहस्यवादी नहीं हैं, परंतु उनका 'सियाराम मय सब जग जानी' पद इसी कोटि में आता है।

चौथी कोटि में अँगरेजी कवि वर्ड्सवर्थ आते हैं। हिंदी के वर्तमान कवियों में महादेवी वर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, निराला,

सुमित्रानंदन पंत तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी इसी कोटि में हैं। सुमित्रानंदनजी पंत* के कुछ ही पद इस कोटि में आ जाते हैं—

फारस और इंगलैंड के रहस्यवाद के इतिहास से एक बात तो स्पष्ट है कि जनसत्तात्मक विचारों की क्रांति से बहुधा रहस्यमयी भावना का प्रादुर्भाव होता है। योट्स साहब आयर्लैंड-निवासी हैं। कबीर समाज के नीच जुलाहे थे। कभी-कभी बाह्य परिस्थितियों की प्रतिकूलता से भी आभ्यंतर-मुख होकर लोग रहस्यवादी हो जाते हैं।

यह बात न भूलना चाहिए कि किसी विशेष 'वाद' में पड़कर कविता अपना महत्त्व खो बैठती है। रहस्यमयी भावना बड़ी सुंदर वस्तु है। कविता में उसकी निबंधना कविता के स्वरूप को अत्यंत आकर्षक बना देती है। परंतु जब कविता की शक्ति किसी 'वाद' विशेष के निरूपण में लगाई जाती है, चाहे वह अद्वैतवाद ही क्यों न हो, तो वह कविता न रहकर केवल तुकबंदी ही रह जाती है। कबीर ने भी जहाँ कहीं रहस्यमयी भावना के बिना ही रहस्यवाद के निरूपण के लिये कविता के पद खड़े किए हैं वहाँ के छंद नीरस हैं। उदाहरण के लिये देखिए—

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर-भीतर पानी;
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तत कथौ गियानी।

ऊपर की ये पंक्तियाँ रहस्यमयी कविता का अच्छा उदाहरण नहीं है, हाँ, 'तोकों राम मिलेंगे, घूँघट का पट खोल रे, में सुंदर रहस्यवाद है।

---

* देख वसुधा का यौवन भार—
गूँज उठता है जब मधुयाम।
* * *
सँदेशा कौन भेजता मौन ?
—'पंत'

वर्तमान युग की कविता में भी, कबीर की भाँति, 'वाद' विशेषों के निरूपण की कविता में नीरस पद्य संभवतः बहुत मिलेंगे, सुमित्रा-नंदन पंत का एक पद उद्धृत किया जाता है—

ठङ्—ठङ्—ठन !

लौह नाद से ठोंक-पीट घन
निर्मित करता श्रमिकों का मन,

ठङ्—ठङ्—ठन !

कर्म क्लिष्ट मानव-भव-जीवन,
श्रम ही जग का शिल्प चिरतन;'
कठिन सत्य जीवन की क्षण क्षण
घोषित करता घन बज्र स्वन,—
व्यर्थ विचारों का संघर्षण,
अविरत श्रम ही जीवन साधन;
लौह-काष्ठ मय रक्त-मांस-मय
वस्तु रूप ही सत्य चिरंतन ।

ठङ्—ठङ्—ठन !

अग्नि स्फुलिंगों का कर चुम्बन
जाग्रत करता दिग् दिगंत घन,—
'जागो श्रमिको, बनो सचेतन
भू के अधिकारी है श्रम जन'
मांस पेशियाँ हृष्ट, पुष्ट, घन,
बटी शिरायें, श्रम बलिष्ठ तन,
भू का भव्य करेंगे शासन,
चिर लावण्य पूर्ण श्रम के कण !

ठङ्—ठङ्—ठन !

कवि ने हसिया हथौड़ावाद के चक्कर में पड़कर काव्य शक्ति को व्यय किया है। मार्क्स के भौतिक वाद का रूप चिंतना द्वारा स्वीकृत अवश्य है, परंतु हृदय में चिंतना का वह प्रत्यय, पैठ कर घुल-मिल नहीं पाया। इसी लिए पंक्तियाँ अधिकतर नीरस प्रतीत होती हैं। अग्रगामी साहित्य के नाते कोई उन्हें ऊँचा काव्य नहीं कह सकता।

बहुत से कवियों में ऊटपटाँग चित्रों की भरमार है। इनके बीच में पड़ कर सच्चे चित्रों और मार्मिक कवियों को भी लोग संदेह से देखते हैं। 'भारतीय आत्मा' की निम्न-लिखित पंक्तियों की सुंदर भावना की ओर ध्यान दीजिये—

अजब रूप धरकर आए हो, छबि कह दूँ, या नाम कहूँ ?
रमण कहूँ या रमणी कह दूँ, रमा कहूँ, या राम कहूँ ?
तीर बने तम चीर रहे हो, सौदामिनि अभिराम कहूँ ?
मोर नचाते, ग्वाल हसाते, या जलधर घनश्याम कहूँ ?
हृदय-प्रदेश उजाला-सा है, उन्हें चंद्रिका कह दूँ क्या !
चमको नील नभोमंडल में, बालचंद्र प्यारे आहा ?

भाषा भावों को समेट नहीं पाती परंतु व्यक्त में अव्यक्त की झाँकी अच्छी दिखाई गई है। प्रसादजी एक दार्शनिक वृत्ति के कवि हैं। उनमें सर्वत्र रहस्यवाद नहीं है। हाँ, उनकी चिंतन-शैली दुरूह अवश्य है और उनके चित्र संश्लिष्ट हैं। उपमाएँ उनकी अनूठी और भाव-व्यंजना नितांत नवीन है। सुमित्रानंदनजी पंत अधिकतर विस्मयवाद के रूपक सामने रखते थे अतएव रहस्यवादी न होकर वह 'विस्मयवादी' कहे जा सकते हैं। इधर उनमें नवीन भौतिकवाद अथवा हंसिया-हथौड़ावाद अधिक मिलता है। इसी विशेषवाद की ओर उनका सारा ध्यान है। पहले की कविताओं में, कहीं-कहीं उनकी उपमाओं और चित्रों के व्यक्त से अव्यक्त की अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होती है—

ओ अकूल की उज्ज्वल लस,
    भरी अनल की पुलकित साँस।
महानंद की मृदुल उमंग,
    अरे अभय की मंजुल—
मेरे मन की विविध तरंग।
    रंगिणि! सब तेरे ही संग,
एक रूप में मिले अनंग।

पं० रामनरेश त्रिपाठी की निम्नलिखित पंक्तियों में भी रहस्यवाद की कुछ झलक मिलती है—

कुरूप है किरण में, सौंदर्य है सुमन में;
कुप्राण है पवन में, विस्तार है गगन में।

'नवीन' जी के विप्लव-गान में—

कण-कण में है व्याप्त वही स्वर,
    रोम रोम जाती है वह ध्वनि;
वही तान गाती रहती है—
    कालकूटफणि की चिंतामणि।

'निराला' जी की पंक्तियों में रहस्यवाद अधिकतर छायावाद की क्रोड में पनपा है। अतएव कहीं-कहीं वह दुरूह हो गया है। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि वर्तमान हिंदी के कवियों में रहस्यवादी बहुत कम हैं। समासोक्ति अथवा अन्योक्ति में रहस्यवाद देखना भ्रम है। दुरूहवाद और रहस्यवाद दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। पं० रामचद्र शुक्लजी ने ठीक कहा है कि काव्य-शक्ति के परिज्ञान से शून्य बहुत से अभिमानी कवि परोक्ष की ओर झूठा इशारा करके असीम और ससीम का समन्वय कराया करते हैं। चित्रों की विकृति को ही वे रहस्यवाद समझते हैं। कुछ थोड़े से शब्द हैं,

और कुछ थोड़े प्रतीक। बस, उन्हीं का बार-बार पुनरुद्धरण उनकी तुकबंदियों में मिलता है—

वेदना उठती है मन में,
तड़क-सा उठता है ब्रह्मांड;
छनक जब होती है मन में,
नहीं थिर होती है मनुहार।

इस पद्य में न कोई छंद का विचार दिखाई देता है, और न भाव का ही क्रम रहस्यवाद के नाम पर ज्ञात होता है। चित्र कैसा बेढंगा है और भाषा कैसी है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इस प्रकार की कविताएँ भी सम्पादकों की असावधानी अथवा नासमझी से प्रकाशित हो जाया करती हैं।

सच्चे रहस्यवाद के लिये भी इस समय एक नया भय उत्पन्न हो गया है। साहित्य के निर्णायकों में एक नई लहर बह रही है। उसकी गति में राजनीतिक मनोभाव है। भारतीय राजनीति को आजकल साम्यवाद जितना प्रभावित किये है उतना कदाचित ही कोई दूसरा आदर्श प्रभावित किये होगा। साम्यवाद किसी युग, किसी देश, किसी विशेषता, किसी परिस्थिति की प्रतिमा, नहीं; वह युगांतर के चिंतनार्णव का मथा हुआ नवनीत है। अतएव उसकी व्यापकता, उसकी विशदता, उसकी सकुलता स्वभावतः सार्वभौमिक है और उसका प्रभाव जीवन के सभी पक्षों पर पड़ना स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य है। अशेष से समत्व की स्थापना के लिये यह विपर्यय नितांत आवश्यक भी है।

इतिहास यह आवृति कर चुका है कि चिंतना से चिंतकों में अधिक प्रतिक्रिया होती है। कभी कभी विचारकों के जोश में फँसकर विचार डूब जाता है। वास्तव में बली से बली विचार को व्यावहारिक जगत में प्रवर्तकों का मुँह ताकना पड़ता है। किसी भी

विचार के स्वरूप निरूपण में यथार्थता कहाँ तक रह जाती है इसका उत्तरदायित्व निरूपण करने वालों की सजग और असजग ईमानदारी पर है। विचार-प्रचार में जो संशोधन प्रचारक आवश्यक समझता है उसकी स्वीकृति वह विचार के आदर्श से कब लेता है? और यह स्वाभाविक भी है।

साम्यवाद के स्वरूप की अवतारणा साहित्य-जगत के गौरव की बात है। अपने देश के जीवन, विचार, कला और साहित्य की प्रगति में आज कौन क्रांति पसंद न करेगा? क्रांति के समर्थकों के बहुत से कथन में सार है और जिनमें उतना सार नहीं है उनमें भी वेग काफ़ी है। इस क्रांति के जहाँ और अर्थ हैं वहाँ साहित्यिक क्षेत्र में इसका यह भी अर्थ है कि हम अपने समस्त इतिहास और अपनी सम्पूर्ण संस्कृति का पुनः मूल्यावधारण और पुनः स्पष्टीकरण करें। साथ ही साथ हमारा आज और कल का साहित्य, और आज और कल की कला हमारे जीवन के उन क्रांतिकारी परिवर्तनों का सजग और सावधान निष्कर्ष होना चाहिये जिनके बिना वे प्रवाहहीन और गँदले हो जायँगे। साम्यवादी कला और साहित्य संबंधी जीवन के उन समूचे प्रवाहणों में जिनका संबंध समाज या समाजवाद से है, ठोस, गत्यात्मक वास्तविक और यथार्थ पर ज़ोर देते हैं। इस पूर्वी करण के बिना हमारी कला और संस्कृति अवश्यमेव निर्जीव हो जायगी।

इतिहास बतलाता है कि समस्त उन्नतिशील और क्रांतिकारी आन्दोलन का सब से प्रमुख लक्षण यह रहा है कि जीवन और चिंतना की अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्याओं को सीमा से अधिक सरल कर दिया जाय। उन्नतिशील और क्रांतिकारी विचारधारा में हमेशा जल्दबाज़ी से संक्षिप्त मार्ग और जल्दी पहुँचाने वाली पगडंडियों का सहारा लिया गया है। उन्नतिशीलता की ऊष्णता में अग्रगामी बनने की धुन में और क्रांति के जोश में रुक कर यह

स्वीकार करना कि अमुक समस्या अथवा घटना जटिल उलझी हुई और दुर्भेद्य है; अथवा किसी भी गतिविधि का प्रचारवादी की जिद से परिचालना न करके उसमें उपयोगवाद निहारने लगना बहुत ही साहस पूर्ण है। तुरत ही ऐसे नेता को युग कहने लगेगा कि वह प्रतिक्रियावादी है, सीधासादा सुधारवादी है, दीर्घसूत्री है, बचाववादी है, तरंगी है, स्वप्न देखने वाला है अथवा पूर्ण कल्पनावादी है। संक्षेप में, वह उन्नति विरोधी समझा जायगा।

यही मनोभाव है जिसके कारण साहित्यिक साम्यवादियों ने रहस्यवाद को कोसा है और कोस रहे हैं। धर्म और रहस्यवाद का कला से क्या संबंध है इस विषय को साम्यवादी जरा जल्दी से टाल देते हैं नहीं तो रहस्यवाद को मिथ्या, शून्य, अनुन्नतशील और हानिप्रद न कहते। हम यह आशा नहीं करते कि कोई साम्यवादी रहस्यवाद का पक्ष लें परंतु हम यह आशा अवश्य करते हैं कि वह शांति और सावधानी के साथ, जीवन और रहस्यवाद का क्या संबंध है, इसका विचार करें। हम विश्व की किसी जोरदार परिस्थिति को ज्वलंत से ज्वलंत उक्ति से धाराशायी नहीं कर सकते। धर्म और रहस्यवाद के प्रतिकूल लेनिन से बड़ा सेनानी कदाचित ही कोई होगा। इस विषय में उनके विचार बड़े ही कड़े और कट्टर हैं। स्वयं उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि धर्मवाद और रहस्यवाद को कोरा आदर्शवाद, मिथ्यावाद, अंधविश्वासवाद या अविज्ञतावाद समझ कर, अथवा यह समझ कर कि इन चीजों का निरूपण उन्नत कक्षा वाले व्यक्तियों ने अनुन्नत जनसाधारण को फाँसने के लिये, उन्हें मूर्ख बनाए रखने के लिये अथवा उनसे बेजा लाभ उठाने के लिये किया है, सहसा टाल न देना चाहिये। धर्मवाद और रहस्यवाद को उन्होंने अपने सिद्धांत के बड़े भारी शत्रु माने। वास्तव में वे हैं भी भौतिकवाद और

अनात्मवाद के भारी विरोधी हैं। अतएव प्रत्येक साम्यवादी को उनकी विशद समीक्षा करनी चाहिये। साथ ही साथ यह भी न भूलना चाहिये कि आदर्शवाद या रहस्यवाद के प्रवाह ने ही स्पिनोज़ा और हिगेल के निर्माण में योग दिया है और लेनिन की बनावट में भी उनका प्रभाव पड़ा है। कार्ल मार्क्स, एंजिल्स और अन्य रूसी क्रांतिकारी विद्वानों की जाज्वल्यमान मंडली ने बहुत कुछ आलोक प्राचीन विचार प्रकाश से ही ग्रहण किया है।

और फिर यह एक बड़े साहस का कार्य है कि हम डायट्राम्के, गेटे, बर्क अथवा वर्तमान लेखक याट्स, ए० ई० और इसी प्रकार के अन्य लेखकों की कृतियों को खाली शून्य, अयथार्थ, अनन्नुत, अनुदार, प्रतिक्रियाशील कहें। किसी के लिये भगवद् गीता ऐसे ग्रंथ का शून्यवाद, शांतिवाद, ओंकारवाद, बचावबाद, प्रतिक्रिया-वाद अथवा कोरे अहिंसावाद का प्रतिरूप कहना उतना ही असम्भव है जितना कि कबीर, जायसी, रवींद्र, माखनलाल चतुर्वेदी, सुमित्रा नंदनपंत, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा और बालकृष्ण शर्मा की कृतियों को।

रहस्यवाद क्या है और उसका साहित्य और कला से क्या सबंध है इसका थोड़ा बहुत निरूपण अन्यत्र किया गया है। साहित्यिक के प्रत्येक समीक्षक को, चाहे वह साम्यवादी हो या न हो, यह न भूलना चाहिये कि कला की प्रत्येक कृति में एक 'सार' एवं तथ्य होता है। उसी को हम कला की आत्मा या प्राण कह सकते हैं। साहित्य और कला के विवेचन में इस 'सार' 'तत्व' 'आत्मा' या 'प्राण' को उसके तह से निकाल कर उसके स्वरूप का स्थिरीकरण सब से अधिक आवश्यक है। इस प्राण के रूप पर कला का मूल्य है। वास्तव में आदर्शवाद और कला की आत्मा को एक ही वस्तु समझना भारी भूल है। आदर्श की प्रेरणा किसी कृति के 'सार' में कोई परिवर्तन नहीं करती। अभिव्यंजना, स्वरूप-

निरूपण, आदर्श वर्गपक्षपात, वातावरण इत्यादि को छोड़ कर कौन ऐसी 'सार' बात है जो बेकन, एडीसन, स्विफ्ट, थेकरे, गाल्सवर्दी को ब्राउट, डिकेन्स हेज़लिट से पृथक् करता है अथवा सुमित्रानंदन, जयशंकर प्रसाद, माखन लाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा को मैथलीशरण गुप्त जगन्नाथदास रत्नाकर, गोपालशरण सिंह से पृथक् करता है। यही वैषम्य विधायिनी विशेषता साहित्य या कला के 'प्राण' या 'सार' है। उसी को हम सौंदर्य भावना कहेंगे। यह किसी युग की बलवती विचार धारा से निर्मित नहीं होती और न वैयक्तिक वातावरण ही इसका निर्माण करता है। कला की ऐसी कृतियों पर समय कभी हस्ताक्षर नहीं करता और न अमरता वर देती है जिसमें केवल चलते फिरतों की भीड़ हो। यह वास्तविकता काल की गोद का चबेना है जो आधा मुँह में है और आधा हाथ में। सुग्राह्य अग्राहिता, असीम की लपक अत्यंत तीव्र और आमोद पूर्ण सजगता, अखिल प्रकाश की कौंध, पीड़ा का टिकाव, खुलना मुंदना होना और बंद होना, वह परिस्थिति जो समूचे जीवन सी तो है ही समस्त जीवनप्रद भी है, जिसमें अमृत का बहाव है, जो मर्त्य और स्वर्ग का सुहाग है, जो गणित के आँके हुये मूल्य के परे हैं, ये सब लक्षण किसी युग में भी कला और साहित्य की महत्ता से ऋण नहीं किये जा सकते।

फकीरी न पवित्र रहने से मिलती है और न ऋषि बनने से। केवल दोष परित्याग पवित्रता की परिभाषा नहीं है। साम्यवाद के अनुसार वर्ग विहीन व्यक्तियों की समाज-स्थापना में जो वृत्ति सहायक हो वही केवल उच्चतम पुण्य है यह विचार भ्रामक है किसी भी अतिवाद के कशमकश और संघर्ष से साहित्य का कोई न कोई नगण्य अंश अछूता भी रह सकता है। उसे अछूत समझना ठीक नहीं।

आप यूनान का प्राचीन साहित्य पढ़िये और प्राचीन संस्कृत साहित्य देखिये। यूनान के साहित्य और मूर्तिकला में अद्वितीय आकार विधान की योजना है। उसमें एक सहेतुकता है और वर्ग विशेषता है। भारतीय महाभारत के वीर पात्रों को देखिये। एक अतींद्रिय अंतरस्थ—अध्यात्म का परिवेष्टन उनके निर्माण में ही मिलेगा। यहाँ की चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्यकला, संगीतकला में भ यही भेद है। शकुंतला अथवा किसी यूनान की वीरांगना में काफी अंतर है। युधिष्ठिर और भरत ऐसे व्यक्ति न एचीलीज हैं न हरकुलीज। देवताओं को लीजिये; सरस्वती या लक्ष्मी और मिनरवा या हेलन में आकाश पाताल का भेद है। जापाना के अद्वितीय कला पारखी निगूची ने अपने एक भाषण में, एक बार, कहा था कि योरप की समस्त कला सामग्री में एक अकड़ की ठसक है। वहाँ के कलाकार खड़े होकर ग्रीवा बहुत उन्नत किये हुए अपनी कृति का निर्माण करते हैं। उनमें पार्थिव उद्दण्डता की अनम्रता है। भारतीय कला की सब से बड़ी विशेषता, उनके अनुसार, यहाँ की नम्रता की सौम्यता है। वास्तव में रवींद्रनाथ से लेकर साधारण से साधारण साहित्यिक तपस्वी ऊपर से झरते हुए अमरत्व के नीचे झुककर अपनी कला का सृष्टि करता है।

भारतवर्ष की कला की ऊँची कृति में सुधा का अवधारणा है, दैवी आलोक की एक परिधि है, एक अपार्थिव जगमगाहट है, एक-मगल है, एक सौंदर्य है, जिसकी कमी यूनान के यथार्थ और आकार विधान की अद्वितीय कला कृतियों में पाई जाती है।

मैं यह नहीं कहता कि भारतीय कला की एकांतता को आप रहस्यवाद, धर्मवाद या आदर्शवाद कहें, परंतु इस विशेषता की उपस्थिति से कोई इनकार नहीं कर सकता। यथार्थवाद के हिमायतियों को यह भी समझ लेना है कि कला में जितने ही आप यथार्थवाद की धुन में रहेंगे उतनी ही आपकी कृति कम यथार्थ होगी। विदेशी

लेखक वुल्फ और जोवी अपने मनोविज्ञान के ज्ञान के लिये बड़े प्रसिद्ध हैं फिर भी उन्होंने आज तक कोई ऐसा पात्र न पैदा किया जो युग को चीरता हुआ चला जाता। डोन् क्विक्जोट और मि० पिकविक किसी भी जीवनी के नायक से अधिक सजीव हैं। गोस्वामी जी के भरत, कैकेई और मंथरा, मैथिलीशरण की उर्मिला और शूर्पणखा, प्रसाद की देवसेना और विजया, प्रेमचंद के आत्मा-राम, प्रवीन और सूरदास जितने यथार्थ और अमर हैं उतनी सम्राट् जार्ज, और सेठ हुकुमचंद की लिखी हुई जीवनियाँ नहीं हैं।

यह न भूलना चाहिये कि सम्पूर्णता में पृथकृत्व के योग से अधिक शक्ति होती है। एक और एक मिल कर, कला तथा साहित्य में, दो नहीं होते, ग्यारह होते हैं। जिन जिन अंकों का योग लगाया जाता है उनके पृथक् पृथक् प्रभाव से इस सम्मिलित योग के प्रभाव में कुछ नवीनता और कुछ अधिकता आ जाती है। वास्तव में सौंदर्य के इस समीकरण में कला की कृति का रहस्य छिपा रहता है। इसीलिये कला की परख करने में ऐसी ऐसी उक्तियों की आवश्यकता पड़ती है, जैसे सामूहिक प्रभाव, वातावरण, प्राण या आत्मा, अतींद्रिय और उच्च तत्व।

मेरा विश्वास है कि कला में रहस्यवाद आवश्यक रूप से दुरूह-वाद का प्रतिरूप नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं कि रहस्यवाद, अनुदार प्रतिक्रिया पूर्ण काल्पनिक, निष्क्रिय, अयथार्थ, अहेतुक, शांत, अथवा अनुन्नतिशील है। वह ऐसा पहले रहा है यह भी पूर्ण रूप से ठीक नहीं है। उसमें विक्षुब्धता और प्रकाश के तत्व हैं। वह असीम अशांति के तह की असीम शांति है। रहस्यवाद जीवन है और जीवन देने वाला भी है, अतएव साम्यवादी मित्रों को समझ लेना चाहिये कि रहस्यवाद कोई अपराध नहीं।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे लेखक का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि वह रहस्यवादी कविता का प्रत्येक दशा में,

पोषक है। रहस्यवादी कविता ही सब कुछ नहीं है। काव्य के अन्य रूपों में रहस्यवाद भी काव्य का एक रूप है। 'रहस्यवाद' शब्द के साथ साथ आज एक दूसरा शब्द 'छायावाद' भी बहुत व्यवहृत होता है। अतएव यह उचित होगा कि, साथ ही साथ, छायावाद क्या है यह भी समझ लिया जाय। 'छायावाद' और 'रहस्यवाद में' क्या अंतर है इसकी जानकारी हो जानी चाहिए।

साधारण प्रकार से यह समझ लेना चाहिए कि रहस्यवाद और छायावाद काव्य के पृथक् पृथक् रूप हैं। जहाँ ये दोनों मिल जाते हैं वहाँ एक नया वर्ग प्रस्तुत हो जाता है। रहस्यवाद का संबंध सीधे वस्तुविधान से रहता है, अभिव्यंजन विधान से नहीं। परंतु छायावाद का संबंध केवल अभिव्यंजना की विचित्रता और दुरूह भाव-गम्यता से रहता है। वस्तु का लगाव उसका गौण रहता है। इसीलिये आध्यात्मिक रहस्यवाद का—जो बहुधा अच्छी छाया-वादी कविताओं में वस्तुरूप से स्वीकृत देखा जाता है—प्रत्येक छायावादी कविता में होना आवश्यक नहीं। आज की छायावादी कविता अभिव्यंजन की अनेकरूपता की ही सबसे बड़ी विशेषता रखती है। वह केवल उक्ति वैचित्र्य पर टिकी है। अतएव उसका छायावादी अभिधान सार्थक है। प्रतीकवाद, अन्योक्तिवाद, लक्षणा-वाद, संकेतवाद, अरूपवाद, नीहारवाद और न जाने कितने ऐसे ही वाद छायावाद में ढूँढ़े जा सकते हैं। पुराने युग में वक्रोक्तिवाद, अलंकारवाद, रीतिवाद, और कुछ अंशों में ध्वनिवाद भी उक्ति-वैचित्र्य के ही रूप समझे जाते थे। कुछ तो आज की छायावादी कविता में भी, परिवर्तित रूप में, मिलेंगे।

आज की छायावादी कविता अभिव्यंजन के समस्त पेचीदे 'वादों' के सहारे आगे बढ़ती है! और साथ ही साथ पुराने रूढ़िगत अभिव्यंजन के स्वरूपों को पीछे छोड़ती चली जाती है। हम अन्यत्र रहस्यवाद की कविता की चरचा करते समय संकेत कर

आए हैं कि रहस्यवाद की उत्तम अभिव्यंजना के लिए प्रतीकवाद, लक्षणावाद, अरूपवाद, अन्योक्ति अथवा समासोक्तिवाद अत्यंत आवश्यक होते हैं। अतएव यह प्रश्न उठता है कि क्या छायावाद का प्रश्रय रहस्यवादी कविता के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इसके उत्तर में केवल यही कहा जा सकता है कि वस्तु कविता के प्राण हैं। प्राणी कोई भी जामा पहन कर प्रकाश में निकल सकता है। यह मानते हुए भी कि छायावाद के जामे में रहस्यवाद खिल उठता है यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि रहस्यवादी कविता का छायावादी होना अनिवार्य है।

नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं जिनकी अभिव्यंजना में वह पेचीदापन नहीं है कि उन्हें हम छायावादी उक्तियाँ कह सकें, परंतु वस्तु रूप में उनमें रहस्यवाद का पूर्ण प्रवेश हुआ है। ऐसी पंक्तियाँ ठेठ रहस्यवादी कहलावेंगी। पुराने कवियों में इसके उदाहरण बहुत मिलेंगे, जैसे—

> पानी ही तैं हिम भया, हिमह्वै गया विलाय।❀
> जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाय॥

इस उक्ति में 'अहम्' और 'परम्' की अद्वैतता की प्रतिष्ठा दृढ़ता और पूर्ण विश्वास के साथ की गई है। 'हिम' और 'पानी' की तत्वतः एक रूपता को केवल उदाहरण रूप में आरोपित करके मायाजन्य द्वैत के भीतर अद्वैत का आभास दिया गया है। इसी प्रकार अंत के पद में 'अब कुछ कहा न जाय' लिखकर साक्षात्कार किए हुए रहस्यवादी की यथेष्ट अभिव्यंजन—कठिनता की ओर भी संकेत कर दिया गया है। इस उक्ति में छायावाद की कोई छाया नहीं है फिर भी रहस्यवाद उपस्थित है।

❀ कबीर

पुराने कवि का एक दूसरा उदाहरण देखिए—

बिगसा कुमुद देखि ससि-रेखा, भै तहँ ओर जहाँ जोइ देखा।*
पावा रूप रूप जस चहा, ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा।

नयन जो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥

इस उक्ति में 'कुमुद', 'शशि', 'कँवल', 'नीर', 'हंस', 'नगहीर' ऐसे जितने शब्द आए हैं वे संदर्भ की प्रतिष्ठा के लिए हैं। पद्मावती जलाशय में स्नान कर रही है। कवि पद्मावती को 'परमरूप' का प्रतिरूप समझता ही है, अतएव समय-समय पर और स्थान-स्थान पर वह प्रत्यक्ष के सहारे परोक्ष की ओर संकेत कर दिया करता है। यहाँ भी जलाशय को अखिल विश्व का प्रतिनिधित्व देकर पद्मावती के विराट रूप में उसे विलास करते हुए दिखाया है। 'शशिमुख' अर्थात् पद्मावती मानों दर्पण है जिसमें समस्त (विश्व) जलाशय उपस्थित है। 'कँवल' ने 'नीर' ने 'हंस' ने 'नग' ने और 'हीरो' ने (ये सब विश्व की अनेक रूपता के चिन्ह हैं) अपना असली रूप पद्मावती के विराट रूप में देखा और अपने को यथार्थ की अयथार्थ छाया के रूप में पाया। 'अहम्' 'ब्रह्म' में लय पाकर उसी में विलास करने लगा। मायाजन्य 'अहम्' की माया टूट गई। भाव यह है कि ऊपर की पंक्तियों में, वस्तुरूप में, रहस्यवाद के जिस रूप को पकड़ा है उसमें छायावाद का छल नहीं है। प्रतिवस्तूपमा प्रसंग की आवश्यक और व्यक्त रूढ़ि है। उसमें लाक्षणिकता बहुत कम है। वस्तुओं का परिगणन रूपक की परम्परा के भीतर है।

पुराने कवियों में ही नहीं, नये कवियों में भी, छायावाद से बचा हुआ, कोरा रहस्यवाद प्रचुर मात्रा में मिलता है।

---

*पद्मावत—मलिक मुहम्मद जायसी।

भरा नैनों में मन में रूप,*
किसी छलिया का अमल अनूप।
जल-थल, मारुत, व्योम में जो छाया है सब ओर।
खोज-खोजकर खो गई मैं, पागल प्रेम विभोर।
भाँग से भरा हुआ यह कूप,
भरा नैनों में मन में रूप।
धमनी की तंत्री बजी, तू रहा लगाये कान,
बलिहारी मैं, कौन तू है मेरा जीवन-प्रान।
खेलता जैसे छाया-धूप।
भरा नैनों में मन में रूप।।

ऊपर का उदाहरण नितांत स्पष्ट है। उसमें कहीं भी छायावाद की दुरूहता नहीं है। 'अहम्' 'ब्रह्म' की जुस्तजू में परेशान है और वह इसके साथ लुका-छिपी खेलता है। कहीं अपनी छवि की कौंध दिखा कर भक्त को उद्विग्न कर देता और वह उसी ओर दौड़ता है। झिलमिल प्रकाश वहाँ से छिप जाता है। खोजता खोजता 'अहम्' स्वयं 'अहम्' नहीं रह जाता—

' खोज खोज कर खो गई मैं '

और कबीर की यह रहस्यमय उक्ति—

' तू ' ' तू ' कहता ' तू ' भया, मुझमें रही न ' मैं ' चरितार्थ हो जाती है। आगे चलकर पूर्णतद्रूप की परिस्थिति में ' अहम् ' में ही ' ब्रह्म ' समा जाता है—

बूँद में समुद्र प्रवेश कर जाता है—

बूँद समुद्र समान, यह अचरज कासों कहौं
हेरनहार हिरान मुहमद आपुहि आपु मैं।†

---

* स्कंदगुप्त (नाटक)—जयशंकर प्रसाद।

† मलिक मुहम्मद जायसी।

कहने का अभिप्राय यह है कि ऊपर वाली उक्ति में साधक और साध्य का रहस्यमय एकीकरण का रूप देकर भी प्रसाद ने उसमें छायावाद का प्रश्रय नहीं लिया। वह कोरे रहस्यवाद का ही अच्छा उदाहरण है। ठीक इसी प्रकार का, एक दूसरे नये कवि का, उदाहरण नीचे दिया जाता है।

हाँ सखि ! आओ बाँह खोल हम लग कर गले जुड़ा लें प्राण।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अंतर्धान।*

ऊपर की पंक्तियों में रहस्यवाद बहुत स्पष्ट नहीं है क्योंकि प्रसंग में कल्पना के सहारे जिस रूप से कवि चल रहा था उसमें रहस्यवाद के लिये विशेष अवकाश भी न था, परंतु 'मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अंतर्धान' इस व्यंजना में रहस्यमय झुकाव स्पष्ट है। इस रहस्यवाद की उक्ति में भी छायावाद का पूर्ण अभाव है।

एक दूसरा कवि अपनी कविता इस प्रकार आरंभ करता है—

कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?†

यहाँ स्पष्ट ही अव्यक्त के लिए तीव्र पुकार है। ध्याता ध्येय के लिए तीव्र वितृष्णा के साथ अग्रसर है। वह संसार के 'श्रद्धेयों' के अध्रुव चरण से परेशान है। उक्ति चिंतना की विशेषता के कारण अध्यात्मवादी न होकर रहस्यवादी हो गई है, परन्तु अभिव्यंजन के उलझाव से दूर होकर छायावादी होने से भी बची है। वही कवि अन्यत्र कहता है—

जोह रहा हूँ बाट चाव से नए जनम के होने की ?‡
देखूँ यह माटी की प्रतिमा कब करते हो सोने की !
रोने की घड़ियों का अंतिम क्षण कब आयेगा देखूँ ?
कब यह मनुआँ ढीठ पुण्य पथ पर बढ़ पायेगा देखूँ !

* 'छाया' (पल्लव)—सुमित्रानंदन पंत।

† बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'।

‡ बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'।

भँवरों में मैं फँसा हुआ हूँ।
मस्त भाव से कसा हुआ हूँ।
नदियाँ उमड़ रहीं घहराती।
कल-लहरों में गँसा हुआ हूँ।

अरे! किनारा बहुत दूर है, प्रिय मेरे भुजदण्ड धरो।
भर-भर प्याले यौवन-मदिरा के देना अब बंद करो।

इस उक्ति में पहली चारों पंक्तियों में तो भक्त का स्पष्ट अध्यात्मवाद है। दूसरी चारों पंक्तियों में भी, अन्योक्ति के रूप में, प्रतीक प्रयोग के सहारे, वही अध्यात्मवाद का भक्तिमय रूप और आगे बढ़ाया है। परन्तु नवीं पंक्ति में "अरे किनारा बहुत दूर है" में रहस्यवाद झलकने लगता है। इस उक्ति में भी अभिव्यंजना कहीं भी छायावाद तक नहीं पहुँचती।

नीचे एक और गीत दिया जाता है—

फिर विकल हैं प्राण मेरे।*

तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देखलूँ उस ओर क्या है।
जा रहे जिस पथ से युग कल्प उसका छोर क्या है!

क्यों मुझे प्राचीर बन कर
आज मेरे श्वास घेरे?

यह व्यक्ति की औत्सुक्यपूर्ण तड़पन है। विश्व के रहस्य को विदीर्ण करने के लिये आत्मा का प्रयास है। जीवन को ही घेरा समझने वाला प्राणी, पहेली को सुलझाने के लिये श्वासों को भी पीछे छोड़ देने में हिचक नहीं सकता। वह देखता है कि जब तक वह सश्वास है तब तक रहस्य विदीर्ण नहीं हो सकता। ऊपर की

---

* सांध्यगीत—महादेवी वर्मा।

कविता की अंतिम दो पंक्तियों का भाव कबीर ने भी अपनी मस्ती वाली धुन में दूसरे प्रकार से कहा है—

> जा मरने से जग डरे, मोंहि परम आनंद,
> कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानंद।

महादेवीजी की पंक्तियों में भावों की कसमसाहट देखकर किसी को यह न समझ बैठना चाहिए कि उनकी अभिव्यंजना के वेग में छायावाद है। ऊपर की पंक्तियों में कहीं भी छायावाद नहीं है। केवल रहस्यवाद का कुछ रूप उन पंक्तियों में उतर सका है।

इतने उदाहरणों द्वारा यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि रहस्यवाद का संबंध वस्तु से है अभिव्यंजना से नहीं और छायावाद का सीधा संबंध अभिव्यंजना से है। रहस्यवाद बिना छायावाद के सहारे भी अभिव्यक्त किया जा सकता है। आगे एक और कविता उद्धृत करके यह प्रसंग समाप्त किया जाता है—

> मिले तुम राकापति में आज
> पहन मेरे दृग-जल का हार।
> बना हूँ मैं चकोर इस बार।
>
> बहाता हूँ अविरल जल-धार।
> नहीं फिर भी तो आती लाज।……
>
> निष्ठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?
>
> हुआ था जब संध्या-आलोक।
> हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर।
>
> विहग रव बन कर मैं चितचोर।
> गा रहा था गुण, किंतु कठोर !
>
> रहे तुम नहीं वहाँ भी, शोक !……

निष्ठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?
याद हैं क्या न प्रात की बात !
खिले थे जब तुम बन कर फूल,
भ्रमर बन प्राण ! लगाने धूल
पास आया मैं चुपके शूल
चुभाये तुमने मेरे गात......
निष्ठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

कहाते थे जब तुम ऋतुराज
बना था मैं भी वृक्ष करील,
रात-दिन दृष्टि-द्वार उन्मील
बुलाया तुम्हें (यही क्या शील !)
न आये पास सजा नव साज......
निष्ठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?
अभी मैं बना रहा हूँ गीत
अश्रु से एक एक लिख घात
किया करते हो जो दिन-रात
बुझाते हो प्रदीप बन बात।
प्राण प्रिय ! होकर तुम विपरीत
निष्ठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?*

ऊपर की कविता में आत्मा परमात्मा की निष्ठुरता की फ़रियाद करता है। ससीम असीम का आलोक मात्र देखता है पर उसमें रमण नहीं करने पाता। वह आलोक 'विपरीत' होकर छिप-छिप जाता है। आधार की कारा में आधेय फँस नहीं पाता। भक्त उन नाना रूपों का विरह में संकलन करता है जहाँ यह बेरुखाई

* निष्ठुरता—सुमित्रानंदन पंत

उसमे दिखाई देती है। विरह में तीव्रता प्रदान करने के लिए ये सारे प्रसंग हितकर हैं। परन्तु फिर भी अभिव्यंजना में कोई पेंचीदा पन अथवा लाक्षणिकता की दुरूहता द्वारा चमत्कार उत्पन्न नहीं किया गया। अतएव यहाँ भी कोई छायावाद नहीं है। यह रहस्यवाद का एक अच्छा उदाहरण है।

यह भी देखा गया है कि केवल अभिव्यंजन की दुरूह संकेतात्मकता के कारण ही कभी कभी आलोचक लोग किसी कविता को रहस्यवादी कविता कहने लगते हैं। यह शुद्ध भ्रम है। ऐसी कविताएं छायावादी कविताएँ हो सकती है परंतु रहस्यवाद से उनका कोई संबंध नहीं। नीचे इस प्रकार की कविताओं के उदाहरण दिए जाते हैं—

मदकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी।*
मेरे निश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी।
मैं व्याकुल परिरम्भमुकुल में बंदी अलि सा काँप रहा।
छलक उठा प्याला लहरी में मेरे सुख को माप रहा।
सजग सुप्त सौंदर्य हुआ हो चपल चलीं भौंहें मिलने।
लीन हो गई लहर, लगे मेरे ही नख छाती छिलने।
श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा।
तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से, बहकाने-से।
सुखी हुए फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने-से।
उस सुख का आलिंगन करने कभी भूलकर आ जाना।
मिलन-क्षितिज-तट मधु-जलनिधि में मृदु हिलकोर उठ जाना।

यह देखा गया है कि नवीन युग के हिंदी कवियों का रुझान छायावाद की ओर अधिक है। कभी कभी तो उनमें वस्तु निरूपण

* स्कंदगुप्त—(नाटक)—जयशंकर प्रसाद।

का पूरा पूरा अभाव रहता है, केवल छायावाद के उखड़े हुए चित्र सामने रखे जाते हैं। परंतु ऊपर की कविता में, चित्रो के रंगीन होने में, कोई कसर नहीं है। वास्तव में परिस्थितियों की समस्त मूर्तिमत्ता छायावाद पर आश्रित है। कहीं कहीं तो मूर्ति की नग्नता अभद्र हो जाती यदि छायावाद का सहारा न लिया जाता। समझने की बात यह है कि इस कविता में वस्तुरूप में रहस्यवाद ग्रहण नहीं किया गया, अतएव यह रहस्यवादी कविता नहीं है। यह कोरा छायावाद है।

वायु के एक ओर से झेले जाने पर जल दूसरी ओर उठेगा ही, इस साधारण सी बात को सांगरूपक के घेरे में डालकर जहाँ एक ओर उक्ति का उलझा चमत्कार सामने आता है वहाँ दूसरी ओर अधीरता के अधीन नाना छोटी छोटी उपभावनाओं की कसमसाहट हृदय को उकसाती भी है। प्याले के छलक उठने से वह अर्थ लेना कि मुस्कराहट समाप्त हो गई, 'सजग सुप्त सौंदर्य हुआ' से रौद्र रस उत्पन्न हो गया यह भाव निकालना, 'लीन होगई लहर' से यह समझना कि मुस्कराहट समाप्त हो गई, ये नितान्त नये संकेत हैं जिन तक पहुँचना कष्ट साध्य हो जाता यदि 'हो चपल चलती भौहें मिलने'—से स्पष्ट क्रोध के सात्विक भावों का रूप सामने न खड़ा हो जाता। बहुत सी कोठरियों में बंद की हुई लाक्षणिकता अथवा ध्वनि काव्य के काम की तभी हो सकती है जब उसको प्रकाश में लाने वाला झटका, चाहे वह कितने सूक्ष्म कौशेयतंतु का क्यों न हो, बाहर अनुभव होता रहे। इसीलिये रूढ़िगत प्रतीक छायावाद को सुबोध रखने के लिए अधिक उपयोगी होते हैं। पाठकों के सामने वे स्वय सिद्ध रूप में उपस्थित होते हैं। ऊपर का 'चपल चली भौहें मिलने' को हम रूढ़ि का ही नवीन प्रयोग मानते हैं। आगे चल कर—

'श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित हुआ।'

वाली उक्ति में चंद्रकला को रजनी (श्यामा) रमणी का प्राप्त नखदान के रूप में देखना और नक्षत्रमाला को उसके उर का मौक्तिकमाल समझना, जहाँ एक ओर शृंगार साधना का विराट रूप उपस्थित करता है वहाँ—

'मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित हुआ'

वाली पंक्ति से प्रेमी के समक्ष रोकर अपने दोनों ओर आँसू की माला बनाने वाली मूर्ति भी सामने आती है जिसकी सार्थकता 'लीन हो गई लहर' के बाद ठीक बैठ जाती है।

छायावाद की दुरूह उक्तियों में इस प्रकार का अर्थभेद हो जाना स्वाभाविक है। एक दूसरी उक्ति देखिए—

अब न कपोलों पर छाया सी पड़ती मुख की सुरभित भाप*
भुज मूलों में शिथिल वसन की व्यस्त न होती है अब माप।
कंकण क्वणित रणित नूपुर थे हिलते थे छाती पर हार,
मुखरित था कलरव, गीतों में स्वर लय का होता अभिसार।

कपोलों पर सुरभित भाव का आकार बनाना जहाँ एक ओर चुंबन की क्रिया की ओर संकेत करता है वहाँ कपोलों की उज्वलता और निर्मलता की ओर भी ध्यान ले जाता है। छायावाद में जब इस प्रकार की अनेकार्थ वाची ध्वनियाँ बिना कष्ट प्रयास के उपलब्ध हो जाती हैं तो अभिव्यंजना को सफलीभूत समझना चाहिए।

दूसरी पंक्ति से प्रगाढ़ और व्यस्त आलिंगन का संकेत तो मिल जाता है परंतु 'वसन' के आ जाने से भाव आघात कुछ शिथिल सा हो जाता है, यद्यपि 'शिथिल' को 'वसन' का विशेषण

---

*कामायनी—जयशंकर प्रसाद

बनाकर उसका परिहार किया गया है। ऊपर की पंक्तियाँ भी कोरे छायावाद की पंक्तियाँ हैं; रहस्यवाद से उनका कोई सरोकार नहीं।

ऊपर जैसा अभिव्यंजना सौंदर्य नीचे की पंक्तियों में भी मिलेगा—

> पाकर विशाल कच-भार एड़ियाँ धँसतीं*
> तब नखज्योति-मिष, मृदुल अँगुलियाँ हँसतीं।
> पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता,
> तब अरुण एड़ियों से सुहास्य सा झड़ता!

मुस्कराने में या तो दंत पंक्तियों की धवलता कौंध जाती है या होठों की लाली चमक उठती है। दोनों रूपों को एक-एक करके सामने रख कर चमत्कार उत्पन्न किया गया है। 'नखज्योति' धवल होगी और अरुण एड़ियों का सुहास्य लाल होगा। सहज में हम जान लेते हैं कि सीताजी के बाल लंबे और घने हैं। चाल में 'गज-गामिनी' की ठसक है, उँगलियाँ कोमल हैं, नख चमक रहे हैं और एड़ियाँ अरुण हैं। इस उक्ति में भी रहस्यवाद ढूँढ़ना भ्रम है।

एक और कविता देखिए—

> आज सुनहली बेला!†
> आज क्षितिज पर जाँच रहा है तूली कौन चितेरा?
> मोती का जल सोने की रज विद्रुम का रँग फेरा!
> क्या फिर क्षण में,
> सांध्य गगन में,
> फैल मिटा देगा इसको
> रजनी का श्वास अकेला?

---

*साकेत—मैथिली शरण गुप्त।

† सांध्यगीत—महादेवी वर्मा।

लघु कंठों के कलरव से ध्वनिमय अनंत अम्बर है?
पल्लव बुदबुद् और गले सोने का जग सागर है?
शून्य अंक भर—
रहा सुरभि डर;
क्या सूना तम भर न सकेगा
यह रागों का मेला!
विद्रुमपंखी मेघ इन्हें है क्या जीना क्षण भर ही?
गोधूली-दिन का परिणय भी तम की एक लहर ही!
क्यों पथ में मिल,
युग युग प्रतिपल,
सुख ने दुख दुख ने सुख के—
वर अभिशापों को झेला?
कितने भावों ने रँग डाली सूनी साँसें मेरी,
स्मित में नव प्रभात चितवन में सन्ध्या देती फेरी;
उर जल कणमय,
सुधि रंगोमय,
देखूँ तो तम बन आता है
किस क्षण वह अलबेला!

इस कविता में, विषादवाद, औत्सुक्यवाद, नश्वरवाद परास्त-वाद, अथवा इसी प्रकार का कोई वाद हो सकता है जिसे छायावाद ने अपने क्रोड़ में सजाकर सामने रखा है। परंतु वह रहस्यवाद नहीं है। यह कविता भी दार्शनिक छायावाद का अच्छा उदाहरण है। और देखिए—

पछतावे की परछांई-सी तुम भूपर छाई हो कौन?*
दुर्बलता-सी, अँगड़ाई-सी, अपराधी-सी, भय से मौन,

---

* छाया—(पल्लव) सुमित्रानंदन पंत।

इस उक्ति में छायावाद कल्पना के नाना रूपों के चित्रित करने में व्यय किया गया है। यहाँ भी वह कोरा छायावाद ही है। रहस्य-वाद से उसे कोई सरोकार नहीं।

आगे जो पद उद्धृत किया जाता है उसका विषय दार्शनिक अवश्य है परंतु रहस्यवाद नहीं। महादेवी वर्मा की उपर्युक्त कविता की भाँति उसमें भी चिंतना की अच्छी सामग्री हैं परंतु काव्य वस्तु रहस्यवाद नहीं। चिंतनावाद और दर्शनवाद रहस्यवाद नहीं होते।

> पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा अंत मेरा*
> फूल उठता शून्य में मेरा हृदय उच्छ्वास मेरा
> ढूँढ़ने जाऊँ कहाँ मैं आँख में आलोक फीका
> पैर लर जाने लगे हैं जी हुआ है भार जीका
> उग्र जग के क्रोध पूरित व्यंग्य को दिल खोल सहता
> और जग के राग में इन आँसुओं को घोल कहता
>
> पागलों के स्वप्न ने उड चंद्र मंडल आज घेरा।
> पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा अंत मेरा॥

चिंतना को विश्व की बहुत सी समस्यायें उकसा सकती हैं। नाना प्रकार के 'वाद' उसे सजग कर सकते हैं, परंतु परोक्ष की रसभरी झाँकी उपस्थित करना निस्सीम को ससीम बनाना यह कोई दार्शनिक प्रत्यय नहीं है। यह तो अरूप को निरूपित करने का सरूप का प्रयास है जिसकी प्रेरणा में समूचे हृदय की छलकती हुई वासना रहती है। केवल इस साधना को जब कविता वस्तु रूप में पकड़ती है तब रहस्यवाद की अवतारणा होती है। ऊपर दी हुई भट्ट जी की सुंदर दार्शनिक छायावाद की कविता इस युग की, चिंतना संबंधी, अच्छी कृति होते हुए भी रहस्यवादी कविता नहीं है।

---

*असहाय—उदयशंकर भट्ट

कोरे छायावाद के चित्र उपस्थित करने वाले वर्तमान कवियों में जयशंकर प्रसाद अच्छे सफल हुए हैं। अन्यत्र इसके उदाहरण दिये जा चुके हैं। एक और उदाहरण देकर इस प्रसंग की व्याख्या समाप्त की जायगी।

अगरु-धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से* ।
मादकता लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से ।
व्याकुल बिजली सी तुम मचलो आर्द्र-हृदय घनमाला से ।
आँसू बरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से ।
इस उदास मन की अभिलाषा अँटकी रहे प्रलोभन से ।
व्याकुलता सौ-सौ बल खाकर उलझ रही हो जीवन से ।
छबि-प्रकाश-किरणें उलझीं हों जीवन के भविष्य तम से ।
ये लामेंगी रंग सुलालित होने दो कम्पन सम से ।
इस आकुल जीवन की घड़ियाँ इन निष्ठुर आघातों से ।
बजा करें अगणित यंत्रों से सुख-दुख के अनुपातों से ।
उखड़ी साँसें उलझ रही हों धड़कन से कुछ परिमित हो ।
अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लाँछित हो ।
यह दुर्बल दीनता रहे उलझी फिर चाहे ठुकराओ ।
निर्दयता के इन चरणों से जिसमें तुम भी सुख पाओ ।

केशों के लिये 'अगरु' से सुगंध 'श्याम' से कालापन और 'लहरियाँ' से घुँघरालापन कितनी सुंदरता से व्यक्त किये गए हैं।

'अधर प्रेम के प्याला से' का यह भाव निकालना कि अधर-अधर से संलग्न हैं दूसरी लक्षणा का निष्कर्ष है। वास्तव में ऊपर की पंक्तियों में प्रेमी की याचना प्रेम के समस्त स्वरूपों में रमण करने की है जिसमें अनुनय भी हो, विनय भी हो, संयोग का सुख

* (स्कंद गुप्त)—जयशंकर प्रसाद

भी हो, वियोग की आहें भी हों, झिड़कियाँ भी हों, मनाना भी हो। प्रसाद जी के अतिरिक्त यदि और कोई कलाकार इसी आशय को व्यक्त करने का साहस करता तो कदाचित् ही अश्लीलता को बरक सकता; और यदि स्वयं प्रसाद जी भी संकेतात्मकता, लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता से काम न लेने और दुरूहता की ओर न झुकते तो उन्हें भी नागरिकता की रक्षा करना कठिन हो जाता!

वियोग के समस्त व्यापार को केवल 'उखड़ी साँसों' से संकेत कर देना और संयोग की यथार्थता को केवल एक शब्द 'धड़कन' से सुना देना और संयोग के बाद वियोग और वियोग के बाद संयोग का क्रम केवल 'इस उदास मन की अभिलाषा, अटकी रहे प्रलोभन में'[1], 'छबि प्रकाश किरणें उलझी हों, जीवन के भविष्य तम से'[2] अथवा 'बजा करें अगणित यंत्रों से, सुख-दुख के अनुपातों से' इन उक्तियों द्वारा हृदय तक उतार देना क्या कोई सरल काम है? प्रणय-व्यापार की समस्त लीलाओं की जानकारी, उनकी रुचि का मानसिक ज्ञान और साथ ही साथ सम-रसात्मकता के आतिशय्य से जी ऊब जाने वाली मानवी कमजोरी, सभी बातें इस कृति कलाकार ने सामने रख दी हैं। इतना सुंदर छाया-वाद का उदाहरण कदाचित ही कहीं देखने को मिले। परंतु स्मरण रहे यहाँ भी कोरा छायावाद है, रहस्यवाद वस्तु रूप में स्वीकार नहीं किया गया।

कोरी छायावादी उक्तियाँ पुराने कवियों में भी मिलेंगी।

१—अर्थात् आज के दुख की उदासीनता आगामी कल के सुख की आशा से सीमित हो।

२—अर्थात् आज प्रिय की सामने की छबि भविष्यकल छिपा सकती है इस दुख का भी ध्यान रहे।

अतएव यह न समझना चाहिए कि छायावाद नितांत आज की चीज है। मलिक मुहम्मद जायसी ने एक स्थान पर पद्मावती की वृद्धावस्था का चित्रण करते हुए लिखा है—

"भँवर छपान हंस परगटा"*

भँवर से संकेत केवल काले और घुँघराले केशों की ही ओर नहीं है, वरन् भ्रमर की स्वभाव-अस्थिरता, उसकी परिस्थिति के अनमिल वर्तन की सतत भनभनाहट (अर्थात् युवावस्था की अशांति की चिरंतन शिकायत) और उसकी सतत परिभ्रमणशीलता तथा पुष्प पराग पान की उत्कण्ठा (भोगों में नये नये उपकरणों द्वारा विलास से चिपके रहने की यौवन की चाह) इन सब की सूचना केवल एक शब्द 'भँवर' दे जाता है और 'छिपाव' से यह स्पष्ट हो जाता है कि युवावस्था की समस्त उद्दाम कामनाएँ और परिस्थितियाँ जिनका संकेत ऊपर किया गया है, छिप गई हैं।

इसी प्रकार 'हंस' से केशों की वर्णधवलता को ही सामने नहीं लाया गया है, वरन् हंस की भाँति वयस्क की समझ-समझ कर धीरे-धीरे पग रखने की बान, उसके मोती चुगने में वृद्ध के उज्ज्वल विचारों की धारणा तथा (कवि प्रौढोक्ति की लक्षणा द्वारा उसके क्षीर-नीर विवेक वाले स्वभाव का संकेत करते हुए) वृद्ध की बुद्धि परिपक्वता और समझ की गंभीरता तक पहुँचा दिया गया है। परंतु यह भी उक्ति रहस्यवाद की उक्ति नहीं है, लक्षणा और व्यंजना के बल पर केवल छायावाद खड़ा है।

छायावाद की सार्थकता बहुत बढ़ जाती है जब वह वस्तु रूप में रहस्यवाद को अपनाता है। छायावाद और रहस्यवाद के सोहाग के चित्र हिंदी में—विशेषकर नवीन हिंदी में—काफी मिलेंगे।

---

* पद्मावत—मलिक मुहम्मद जायसी

पुराने कवियों में भी एक दो उक्तियाँ रहस्यवादी छायावाद की मिलेंगी—

काहे री नलनी, तू कुँभिलानी ?*
तेरे ही नाल सरोवर पानी ॥

जल मैं उतपति, जल मैं बास, जल में नलिनी तोर निवास।
ना तल तपति, न ऊपरि आग, तोर हेत कहु कासन लागि ?
कहैं 'कबीर' जो उदक समान, ते नहिं मूए हमरे जान ॥

'अहम ब्रह्मास्मि' की परिस्थिति न प्राप्त कर सकने के कारण ही मनुष्य दुःख भोगता है। कबीर ने उसे पा लिया है। साक्षात्कार हो चुका है। परतद्रूप भावना का यह चित्र दूसरी आत्माओं को सचेत करने के लिए खींचा गया है।

"जल मैं उतपति, जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास"
यह उक्ति वैसी है जैसी कबीर की दूसरा उक्ति—

"आदौ गगना, अंते गगना, मध्ये गगना भाई।"†

अथवा—

जल में कुँभ, कुँभ में जल है बाहर भीतर पानी‡
फुटा कुँभ जल जलहिं समाना,...............

रूपकों की पेंचोदगी के सहारे छायावाद का प्रश्रय ऊपर लिया गया है और रहस्यमयी भावना की अभिव्यक्ति की गई है। केवल उक्ति वैचित्र्य पर आश्रित रहस्यवाद भी कबीर में है। एक उदाहरण आगे दिया जाता है—

---

*कबीर वचनावली—कबीर
† ,, ,, ,,
‡ ,, ,, ,,

समदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूखाँ चढ़ि गई।*

मानव की सांसारिक परिस्थिति का संकेत समुद्र से करना, इस दुनियावी मिलावट का संकेत बाहर से आकर समुद्र में मिली हुई नदियों से करना; उद्दीप्त भक्ति भावना—संसार के विषयों को भस्म करने वाली भावना—को अग्नि द्वारा संकेत करना और तन्मय के लिए ऊपर खिंची हुई आत्मा की अभिव्यंजना रूख पर चढ़ी हुई मछली से करना—इत्यादि छायावाद के अच्छे चित्र हैं। विषय पूर्ण रूप से रहस्यवाद है।

इसी प्रकार केवल प्रतीक प्रयोग के बल पर ब्रह्मवाद को, हृदय जगत की तन्मयता के साथ, उक्ति वैचित्र्य के सामुहिक सौंदर्य द्वारा, छायावाद का रूप नीचे के पद में दिया गया है—

रमैया की दुलहिन लूटा बजार।†

सुरपुर लूट नागपुर लूटा तीन लोक मचा हाहाकार॥
ब्रह्मा लूटे महादेव लूटे नारद मुनि के परी पिछार।
सिंगी की मिंगी करि डारी पारासर के उदर बिदार॥
कनफूँका चिदकासी लूटे लूटे जोगेसर करत बिचार।
हम तो बचिगे साहब दया से, सब्दडोर गहि उतरे पार॥
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो इस ठगनी से रहो हुसियार॥

दाम्पत्य रति ने ऊपर के पद को और भी सरस बना दिया है। 'शब्दडोर गहि उतरे पार' में 'सुरत शब्द' के अभ्यास की ओर एक रूखा सा संकेत है। पर तद्रूप भाववाली भक्त के मुख से निकली

---

* कबीर वचनावली – कबीर

† कबीर शब्दावली—कबीर

हुई यह रहस्यवाद की वाणी अधिक सरस इसलिए नहीं हो पाई क्योंकि इसका झुकाव अध्यात्मवाद की ओर अधिक है। प्रयास करने पर कबीर के कूटों और उलटवाणियों में भी कुछ पद छायावाद के मिल जायेंगे जिनका विषय रहस्यवाद है।

वर्तमान कवियों में रहस्यवादी-छायावाद के सुन्दर चित्र कुछ ही कवियों के उत्तम बन पड़े हैं, शेष की कृतियों में या तो कोरा छायावाद है, या कोरा रहस्यवाद है अथवा ये दोनों वाद नहीं हैं; परन्तु कवियों को और उनके आलोचकों दोनों को भ्रम है कि वे इनके प्रवर्तक हैं। कुछ आलोचक तो अलंकार के नवीन प्रयोगों से चमत्कृत होकर उसी को छायावाद कहने लगे हैं। इस संबंध में आगे कहा जायगा। नीचे एक कविता उद्धृत की जाती है—

तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल गति सुरसरिता।*
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कांत कामिनी कविता॥
तुम प्रेम और मैं शांति।
तुम सुरापान घन अंधकार,
मैं हूं मतवाली भ्रांति।
तुम दिनकर के खर किरण जाल मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग मैं हूँ पिछली पहचान॥
तुम योग और मैं सिद्धि।
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि।

'तुम और मैं' के एकीकरण की ओर उतना प्रयास नहीं है जितना 'तुम और मैं' के तात्विक एकरूपता के सिद्ध करने की ओर है। इन पंक्तियों में द्वैताद्वैत की भावना को काव्य बद्ध किया गया है। इसी कविता में कवि आगे कहता है—

---

* 'तुम और मैं' शीर्षक कविता—निराला

तुम हो प्रियतम मधुमास और मैं पिक कल-कूजन तान।*
तुम मदन पंचशर-हस्त और मैं हूँ मुग्धा अनजान॥

तुम अम्बर मैं दिग्वसना।
तुम चित्रकार घन-पटल श्याम,
मैं तड़ित्तूलिका - रचना॥

तुम रण ताण्डव-उन्माद नृत्य मैं युवति मधुर, नूपुर-ध्वनि।
तुम नाद वेद आकार सार मैं कवि शृंगार-शिरोमणि॥

तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति।
तुम कुंद इंदु-अरविंद शुभ्र,
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।

छायावाद की क्रोड़ में रहस्यवाद की वस्तु रूप में प्रतिष्ठा सफल हुई है। ऐसी सुन्दर कविताएं कम मिलेंगी।

एक दूसरी कविता नीचे और दी जाती है।

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी!†
प्रिय के अनत अनुराग भरी!

किसको त्यागूँ किसको माँगूँ,
है एक मुझे मधुमय विषमय;
मेरे पद छूते ही होते,
काँटे कलियाँ प्रस्तर रसमय!

पालूँ जग का अभिशाप कहाँ
प्रतिरोमों में पुलकें लहरी!

जिसको पथ शूलों का भय हो,
वह खोजे नित निर्जन गह्वर;

---

* उसी कविता का शेषांश

† सांध्यगीत—महादेवी वर्म्मा

प्रिय के संदेशों के वाहक,
मैं सुख-दुख भेटूँगी भुजभर;
मेरी लघु पलकों से छल की
इस कण कण में ममता बिखरी !
अरुणा ने यह सीमंत भरी,
संध्या ने दी पद में लाली;
मेरे अंगों का आलेपन—
करती राका रच दीवाली !
जग के दागों को धो धो कर
होती मेरी छाया गहरी !
पद के निक्षेपों से रज में—
नभ का वह छायापथ उतरा;
श्वासों से घिर आती बदली
चितवन करती पतझार हरा!
जब मैं मरु में भरने लाती
दुख से, रीती जीवन गगरी !

ऊपर की कविता में 'अहम्' के विस्तार का रूप यत्र तत्र स्पष्ट दिखाई देता है। 'अहम्' का रहस्यमय प्रभाव काव्य का प्राण है—

"मेरे पद छूते ही होते,
काँटे कलियाँ, प्रस्तर, रसमय"

संध्या ने पद में लाली भरदी, राका ने अंगों का आलेपन किया, श्वासों से बदली घिर आती है, चितवन पतझार वाली है—इत्यादि छायावादी अभिव्यंजना में रहस्यवाद की ही प्रतिष्ठा दिखाई देती है।

पं० माखन लाल जी का कोई कविता-संकलन इस समय उपस्थित नहीं है। परंतु मुझे स्पष्ट स्मरण है कि उनकी कृतियों

में छायावादी रहस्यवाद के बड़े सुंदर और सुलझे हुए उदाहरण उपस्थित हैं—

"अगणित वार समाकर भी
छोटा हूँ यह संताप हुआ।"

कदाचित् यह उन्हीं की पंक्ति है।

नवीन कवियों में कभी कभी अभिव्यंजना के चमत्कार, या यों कहिए कि छायावाद का मोह इतना अधिक हो जाता है कि वस्तु रूप में ग्रहण किया हुआ रहस्यवाद पूरा-पूरा स्पष्ट नहीं हो पाता। छायावाद की भूलभुलैया में वह स्थान स्थान पर झाँकता सा प्रतीत होता है। क्रमपूर्ण निबंधना का अभाव रहता है। छायावाद का प्रश्रय जहाँ एक ओर रहस्यवाद को सशक्त और प्रभावापन्न बना देता है वहाँ दूसरी ओर छायावाद की अतिशय्यता उसे विरूपित भी कर देती है। आज के कवियों में भी कुछ ऐसे श्रेष्ठ कलाकार हैं जिनमें रहस्यवाद और छायावाद का बहुत ही उत्तम समन्वय मिलेगा।

उदाहरणार्थ—

'निर्झर कौन बहुत बल खाकर, *
बिलखाता ठुकराता फिरता,
खोज रहा है स्थान धरा में।
अपने ही चरणों में गिरता।"

जिस प्रसंग में ये पंक्तियाँ आई हैं वहाँ रहस्यवाद वस्तुरूप में ग्रहण करके काव्य बद्ध करने का कवि का कोई अभिप्राय न था फिर भी वेदांत के अद्वैतवाद की सुन्दर भावमय अभिव्यंजना का समावेश ऊपर की पंक्तियों की पकड़ में अनायास आ गया है और साथ ही साथ छायावाद का उत्तम रूप भी बन पड़ा है।

---

* 'विषाद' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ—जयशंकर प्रसाद

शांति की प्राप्ति का इच्छुक ब्रह्म की तलाश में आत्मा न जाने कहाँ कहाँ मारा मारा घूमता है, कितने कष्ट झेलता है, अपने से बाहर ब्रह्म को अगति प्राप्ति के लिये ढूँढ़ा करता है परंतु उसे वास्तविक शांति तभी मिलती है जब वह अपने को 'अहं ब्रह्मास्मि' समझ कर सारी पूजा, अर्चना और श्रद्धा का केंद्र बनाता है और अपने ही चरणों पर भक्ति के फूल बिखेर देता है। 'ओऽम्' की परिस्थिति हो जाती है। इसी भावना को निर्झर के प्रतीक द्वारा बड़े अनूठे ढंग से व्यक्त किया गया है। 'बहुत बल खाना' 'बिलखाना' 'ठुकराना' 'खोजना' 'अपने चरणों में गिरना' ये समस्त क्रियाएँ वाच्यार्थ देकर लाक्षणिक अर्थ का संकेत करते हुए एक समूची रहस्यमय परिस्थिति को व्यंग्य करती हैं। वही ध्वन्यार्थ इन पंक्तियों का प्राण है।

छायावाद के रूप को और अधिक समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसका और अलंकारवाद का स्थूल भेद समझलें। नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं जहाँ न छायावाद है और न रहस्यवाद है—

शांत स्निग्ध ज्योत्स्ना उज्ज्वल !*
अपलक अनंत, नीरव भूतल !
सैकत-शय्या पर मुग्ध-धवल, तन्वगी गंगा ग्रीष्म-विरल
लेटी हैं शांत, क्लांत, निश्चल !
तापस-बाला-सी गंगा कल शशि मुख से दीपित मृदु-करतल,
लहरे उर पर कोमल कुंतल।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुंदर
चंचल अंचल सा नीलांबर।
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी-विभा से भर,
सिमटी हैं वर्त्तुल, मृदुल लहर।

---

* 'नौका बिहार' शीर्षक कविता—सुमित्रानंदन पंत

ऊपर की कविता में कोई छायावाद नहीं है। रहस्यवाद भी नहीं है। केवल दृश्य की मूर्तिमत्ता बड़ी स्पष्टता और विशदता के साथ खड़ी की गई है। कवि का पर्यवेक्षण बड़ा सूक्ष्म है और वह स्वरूप को जैसे के तैसा अंकित कर देने में बड़ा पटु है। उपमाओं में अधिकतर नवीनता है और उनका भाव साहश्य और रूपसादृश्य दोनों मिल कर चित्रों के हृदय प्रवेश में बड़ी सहायता देते हैं।

इसी प्रकार का एक दूसरे कुशल कलाकार का चित्र देखिए—

बीती विभावरी जाग री !*

अम्बर-पनघट में डुबा रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।

खग कुल कुल कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,

लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु-मुकुल-नवल-रस गागरी।

अधरों में राग अमंद पिये,
अलकों में मलयज बंद किये—

तू अब तक सोई है आली !
आँखों में भरे विहाग री !

संगीत की ऊँची गति विधि के साथ प्रातःकाल का इतना मूर्तिमान और सरस वर्णन बहुत कम देखने में आता है। नेत्र खोल कर कवि ने प्रातःकाल को देखा है। वह उस वर्णन का अवसान—

"तू अब तक सोई है आली।
आँखों में भरे विहाग री।"—

---

* प्रातःकाल वर्णन —जयशंकर प्रसाद

इन पंक्तियों से करके मानवता का प्रकृति के इस विपर्यय के साथ अटूट संबंध दिखलाता है और चित्र को तन्मयता के लिये और अधिक सफल बना देता है। इन पंक्तियों में प्रसाद ने छाया-वाद को नहीं अपनाया। वस्तुरूप में तो स्पष्ट प्रातःकाल वर्णन है, अतएव रहस्यवाद का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

एक और कविता आगे दी जाती है। बिना ध्यान से पढ़े हुए लोग इसे रहस्यवादी कविता कहने की भ्रांति कर सकते हैं। एक प्रसिद्ध आलोचक ने ऐसा किया भी है। कुछ शब्द ऐसे आ गए हैं जिन्हें यदि उपमा के रूप में न लेकर ध्वन्यात्मक समझा जाय तो ऐसी भूल हो जाती है।

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे बलि
बध के सुंदर जीव,
उच्च कठोर शिखर के ऊपर
है मंदिर की नींव
बड़े बड़े ये शिलाखंड मग
रोके पड़े अचेत,
इन्हें लाँघ तू, यदि जाना है
तुझे मरण के हेत:
ऊपर अगम शिखर के ऊपर—
मचा मृत्यु का रास,
नीचे उपत्यका में जीवन—
पंकिल का है त्रास।
चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे तू
बलिदानों के पुंज,
देख कहीं न लुभावे तुझको
यह जीवन की कुंज;

मधुर मृत्यु का नृत्य देख तू
देने लग जा ताल,
अपना सीस पिरो कर करदे
पूरी माँ की माल;
है जीवन अनित्य, कट जाने
दे तू मोहक बंध
कर दे पूरा आत्मनिवेदन
का तू आज प्रबंध।

कवि की स्पष्ट पुकार देश सेवा है। बलि पशु से देश सेवक की कठिनाई उसकी तपस्या और बलिदान को व्यक्त किया गया है। वह कहता है—

"अपना सीस पिरो कर करदे
पूरी माँ की माल।"

यहाँ 'माँ' स्पष्ट रूप से भारत माता के लिये कहा गया है। अतएव जितने पद भी ऐसे मिले जिनके कारण आत्मा का परमात्मा तक आरोहण की कठिनता भासित हो, उन्हें रूढ़ि प्रयोग समझ कर एक झिटके के साथ नीचे उतार लेना चाहिए और वाच्यार्थ वाला सीधा सादा अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। इस कविता में किसी प्रकार का रहस्यवाद नहीं है। केवल देश प्रेम को उद्दीप्त किया गया है।

नीचे की कविता में स्वरूप चित्रण के साथ साथ भाव चित्रण की रचना की गई है—

प्रिय, मुंदित दृग खोलो! †
गत स्वप्न-निशा का तिमिर-जाल नव किरणों से धोलो—
मुंदित दृग खोलो!

---

* 'शिखर पर' शीर्षक कविता (कुंकुम)-बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
† परिमल—सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

जीवन-प्रसून यह वृंत हीन खुल गया उषा-नभ में नवीन,
धाराएँ ज्योति-सुरभि उर भर बह चलीं चतुर्दिक कर्म लीन
तुम भी निज तरुण-तरंग खोल नव अरुण-संग होलो –
मुंदित दृग खोलो !

वासना-प्रेयसी बार-बार श्रुति-मधुर मंदस्वर से पुकार
कहती, प्रतिदिन के उपवन के जीवन में, प्रिय, आई बहार
बहती इस विमल वायु में बह चलने का बल तोलो—
मुंदित दृग खोलो !

निराला जी की इस कविता में अभिव्यंजना का सौंदर्य सूक्ष्म निरीक्षण और भाषा-प्रयोग-कौशल पर आश्रित है। छायावाद पर नहीं। इसका विषय भी रहस्यवाद नहीं है। कविता के संकलित सौंदर्य का प्रभाव उसकी भावसुकुमारता और मूर्तिमत्ता पर आश्रित है।

दो कविताएँ और उद्धृत करके अब यह प्रसंग समाप्त किया जाता है—

पूछ लूँ मैं नाम तेरा !
मिलन रजनी हो चुकी विच्छेद का अब है सबेरा।

(१)

जा रहा हूँ और कितनी देर अब विश्राम होगा,
तू सदय है, किंतु तुझको और भी तो काम होगा।
प्यार का साथी बना था, विघ्न बनने तक रुकूँ क्यों ?
समझ ले, स्वीकार करले यह कृतज्ञ प्रणाम मेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(२)

और होगा मूर्ख जिसने चिर-मिलन की आस पाली।
'पा चुका—अपना चुका' है कौन ऐसा भाग्यशाली ?

इस तड़ित को बाँध लेना देव मैंने न माँगा—
मूर्ख उतना हूँ नहीं, इतना नहीं है भाग्य मेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(३)

श्यास की हैं दो क्रियायें—खींचना, फिर छोड़ देना,
कब भला सम्भव हमें इस अनुक्रम को तोड़ देना !
श्वास की उस संधि-सा है इस जगत में प्यार का पल,
रुक सकेगा कौन कब तक बीच पथ में डाल डेरा ?
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(४)

घूमते हैं गगन में जो दीखते स्वच्छंद तारे।
एक आंचल में पड़े भी अलग रहते हैं बिचारे।
भूल में पल-भर भले छू जांय उनकी मेखलायें—
दास मैं भी हूँ नियति का, क्या भला विश्वास मेरा !
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(५)

प्रेम को चिर-ऐक्य कोई मूढ़ होगा तो कहेगा।
विरह की पीड़ा न हो तो प्रेम क्या जीता रहेगा ?
जो सदा बाँध रहे वह एक कारावास होगा।
घर वही है जो थके को रैन-भर का हो बसेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा।

(६)

रात बीती, यदपि उसमें संग भी था, रंग भी था,
अलस अंगों में हमारे व्याप्त एक अनंग भी था।
तीन की उस एकता मे प्रलय ने ताण्डव किया था।
सृष्टि भर को एक क्षण-भर बाहुओं ने बाँध घेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(७)

सोच मत, 'यह प्रश्न क्यों जब अलग ही हैं मार्ग अपने ?
सच नहीं होते इसी से भूलता है कौन सपने ?'
मोह हमको है नहीं, पर द्वार आशा का खुला है—
क्या पता फिर सामना हो जाय तेरा और मेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

(८)

कौन हम-तुम ? दुःख-सुख होते रहे, होते रहेंगे।
जान कर परिचय परस्पर हम किसे जाकर कहेंगे ?
पूछता हूँ, क्योंकि आगे जानता हूँ क्या बदा है।
प्रेम जग का, और केवल नाम तेरा, नाम मेरा ॥
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

मिलन-रजनी हो चुकी, विच्छेद का अब है सबेरा।*

अज्ञय जी की कृति में मिलन और वियोग के बड़े विचार पूर्ण चित्र हैं। अंत में जहाँ एक ओर वेदना की विह्वलता और मस्ती है वहाँ दूसरी ओर चिंतना के ऊँचे रूप और विचार की सुलझी प्रणाली देखने में आती है। व्यक्ति के मिलन और वियोग की दार्शनिक व्याख्या के भीतर संसार की नश्वरता और प्राणियों की चिरंतनता का रूप भी सामने आ जाता है। परन्तु ध्वनि की सरल सीढ़ी से यह मुक्त भी है। यहाँ न छायावाद है और न रहस्यवाद—

दूसरा उदाहरण देखिए—

इस अबोध की अंधकारमय*
करुण-कुटी पर करुणा कर
अये रंध्र-मग-गामी स्वागत,
आओ मुसका उज्वल तर!

---

*'नाम तेरा' शीर्षक कविता—सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

रजत-तार से हे शुचि-रुचिमय !
हे सूची- से कृशतर अंग !
इस अधीर की लघु कुटीर का
तिमिर चीर कर, कर दो भंग।

हे करुणाकर के करुणाकर
तुम अदृश्य बन आते हो,
रज कण को छू, बना रजत-कन
प्रचुर-प्रभा प्रकटाते हो।

अरुण अध खुली आँखें मल कर
जब तुम उठते हो छवि मय !
रंग-रहित को रंजित करते,
बना हिमालय हेमालय।

तुम बहु-रंगी होने पर भी
सदा शुभ्र रहते हो नाथ !
मुझको भी इस शुभ्र ज्योति में
मज्जित कर लो अपने साथ।

हे सुवर्णमय, तुम मानस में
कमल खिलाते हो सुंदर,
मेरे मानस में भी उसके
विकसा दो पद-पद्म अमर।

और नहीं तो, अपना-ही-सा
मुझको भी सीधा जीवन
हे सीधे-मग-गामी, दे दो,
दिव्य अप्रकट गुण पावन।*

---

*'याञ्चा' (वीणा)—सुमित्रानंदन पंत

इस कविता की पुकार सूर्य के प्रति है। वाच्यार्थ का प्रयोजन उसी के लिये है। परंतु स्थान स्थान पर कुछ ऐसे शब्द आगए हैं जिनके कारण एक ध्वन्यार्थ का भी आरोप होता चलता है। उसका विषय भगवान हो सकता है। अतएव यहाँ पर समासोक्ति अलंकार की पुष्टि दिखाई देती है। व्यंग्यार्थ का विषय अध्यात्म है परंतु वस्तु रूप में रहस्यवाद नहीं है। अतएव इस कविता को रहस्यवादी कहना भूल है।

अभिव्यंजना पक्ष में केवल समासोक्ति का अंचल पकड़ने से कोई कविता छायावादी नहीं कही जा सकती। छायावादी कविता की और विशेषताएँ इसमें नहीं हैं अतएव यह छायावादी कविता नहीं है। वाच्यार्थ और ध्वन्यार्थ दोनों पक्षों का अर्थ स्पष्ट है। कहीं कहीं श्लेष द्वारा और कहीं कहीं लक्षणा द्वारा शब्दों में अर्थों का द्वैत निबाहा गया है। कुछ शब्द अथवा वाक्य एक-पक्षीय हैं। उनकी प्रतीति या तो वाच्यार्थ में होती है या ध्वन्यार्थ में; उभय पक्षों में नहीं?

उदाहरणार्थ—

"अरुण अधखुली आँखें मल कर"

× × ×

"बना हिमालय हेमालय।"

अंतिम आठ पंक्तियों में तो, बिलकुल अंतिम पंक्ति छोड़कर, पूरा झुकाव वाच्यार्थ की ही ओर हो जाता है। ध्वन्यार्थ की हलकी से हलकी आभा भी विलीन हो जाती है। 'पद पद्म अमर' कह कर तो ऐसे व्यक्त रूप में खुलकर ध्वन्यात्मकता से पीछा छुड़ा लिया गया है कि कविता की कला ही नष्ट हो गई है। परंतु यह कवि कि आरंभिक कृति है। समझना केवल यह है कि आध्यात्मिकता की ओर वस्तु का अधिक झुकाव होने पर भी इस कविता

में किसी प्रकार का परोक्षवाद अथवा रहस्यमय परिस्थिति का उद्घाटन नहीं किया गया। स्पष्टतया इस कविता ने वस्तु रूप में रहस्यवाद को नहीं अपनाया है। अतएव यह रहस्यवादी कविता नहीं है। अभिव्यंजना में समासोक्ति अलंकार का प्रश्रय इतना स्पष्ट है कि हम उसे छायावाद नहीं कह सकते।

मैथिली शरण जी एक स्थान पर उर्मिला के सौंदर्य वर्णन के प्रसंग में लक्ष्मण से कहलाते हैं—

> नाक का मोती अधर की कांति से
> बीज दाड़िम का समझ कर भ्रांति से,
> देख उसको ही हुआ शुक मौन है,
> सोचता है, अन्य शुक यह कौन है ?

पहली पंक्ति में तद्गुण अलंकार का आभास है। इसी में भ्रांति-मान अलंकार स्पष्ट है। हेतूत्प्रेक्षा तथा अर्थांतरन्यास का आरोप भी दिखाई देता है। इतने अलंकारों की लपेट में उक्ति का जो रूप सामने है उसमें छायावाद ढूँढ़ना व्यर्थ है। वह तो कोरा अलंकारवाद है।

अलंकारों का प्रयोग वहीं तक श्लाघ्य है, जहाँ तक वह भावोत्कर्ष का साथ दे। कभी-कभी ऊहा के बल पर कवि नितांत उक्ति वैचित्र्य में फँस जाता है और भाव का सूत्र उसके हाथों से छूट जाता है। ऐसे अवसरों पर वह उक्ति केवल प्रदर्शन की वस्तुमात्र रह जाती है।

यदि कोई कवि किसी सुंदर रमणी को रोते देखकर समासोक्ति की निबंधना में यह कहे—

"भ्रमर के मँडराने से आंदोलित पुष्प की आंतरिक पँखुड़ियों से निकलकर ओसबिंदु गुलाब के फैले हुए लाल दलों पर ढलता दिखाई दे रहा है—"

तो इस उक्ति में कपोल भी हैं, नेत्र भी हैं, पुतली का संचलन भी है, अश्रु हैं, अतएव रूप सादृश्य के ध्यान से यह उक्ति एक बड़े सामयिक प्रसंग में अदोष हो सकती है, और यदि भाव सादृश्य की ओर विचार किया जाय तो भी कोमलता के भार के कारण भावों की भी सुकुमार उद्भावना होती है। परंतु यदि यही कवि ऊहा के फेर में पड़ कर छायावादी बनने के धुन में उक्ति को यों हेर-फेर कर दे—

"पुष्प का हृदय चीर कर भ्रमर ओस के मोती निकालता है, और गुलाब के लिए हार गूँथ-गूँथ कर पहना रहा है," तो इस उक्ति में 'चीरने' और 'गूँथ-गूँथ कर पहनाने' में जो "सजग प्रयत्न" का भाव आगया है वह रस की तन्मयता के लिए घातक है। ऊहा से अत्यधिक काम लिया गया है। जो आनंद-विस्मरण भावविभोरता में होना चाहिये वह सजगता के उद्दीप्त हो जाने से नष्ट हो जाता है। शृंगार भाव विलीन होकर रसाभास हो जाता है। दूसरा रस उत्पन्न हो जाता है छायावादी कवियों को, जो अलंकार की गूढ़ विवंधना के पोषक हैं, ऐसे दोष से बचना चाहिए।

एक घूँट

हिंदी-संसार जयशंकर प्रसाद जी के नाम से चिर-परिचित है। प्रसादजी की काव्य-निर्झरिणी तीन श्रोतों से निर्गत हुई है—प्रबंध तथा स्फुट कविताएँ, कहानियाँ तथा उपन्यास और नाटक। प्रथम दोनों क्षेत्रों में तो उनका स्थान ऊँचा है ही नाटक लिखने में भी वह अद्वितीय हैं। स्कंदगुप्त, अजातशत्रु, चंद्रगुप्त, जन्मेजय का नाग-यज्ञ बड़े नाटक और कई छोटे-छोटे रूपक आपने लिखे हैं। 'एक घूँट' प्रसादजी के छोटे नाटकों में से एक है। उसमें केवल एक अंक है। केवल एक आदर्श को खड़ा करने के लिये कथोपकथन कराया गया है। कदाचित् इस आदर्श की पुष्टि के लिये कि सच्चा प्रेम एक ही से हो सकता है, एक नाटक का प्रणयन हुआ है। प्रेम के अखंड स्रोत को एक ही दिशा की ओर बहाकर, एक ही केंद्र तक पहुँचाकर प्रेम कृतकार्य होता है—यही लेखक प्रतिपादित करना चाहता है। सर्वोन्मुखी प्रेम को एकोन्मुखी बनाना साधु-धर्म को उपासना-भावना की चरम सीमा तो है ही, समाज-धर्म की भी इससे पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है। ध्याता के लिये एक ही ध्येय, ज्ञाता के लिये एक ही ज्ञेय की भाँति, उपासना-विधान में भी व्यवस्था की गई है।

कबिरा या जग आइ के बहुतक कीन्हे मित।
जिन दिल बाँधा एक ते, ते सोये निश्चिंत॥

बीसों या सहस्रों देवी-देवताओं में घूमने वाला मन एकाग्रता और अन्यमनस्कता, जो कि पूर्ण-तीव्रता के लिये अत्यंत आवश्यक है, कभी नहीं प्राप्त कर सकता। समाज के लिये भी, उसी प्रकार,

एक स्त्री-प्रेम समाज को विच्छृंखलता से बचा लेता है। बस, इसी आदर्श की प्रतिष्ठा क लिये प्रसादजी ने 'एक घूँट' को रचा है।

इस आदर्श के प्रतिकूल सबल से भी सबल जितनी दलीलें हो सकती हैं, उन्हें 'आनंद' उपस्थित करता है। गृहस्थी के प्रेम में फँसे हुए लोगों के दुःख का चित्र सामने रखता है। पति की उपेक्षा, पत्नी का विरह, परस्पर का संघर्ष इत्यादि जितने कारुणिक स्वरूप प्रेम के सीमित होने के वह सोच सकता है, बतलाता है और अरुणाचल-आश्रम के लोगों को उपदेश देता है कि विश्व की समस्त अभिव्यक्ति को समान-भाव से प्रेम करे। 'आनद' की 'वसुधैव कुटुंबकम्' सबसे बलवती दलील अवश्य और यह भी सत्य है कि यदि मनुष्य इस सिद्धांत को व्यवहार-जगत् में परिणत कर सके, और विश्व के सारे प्राणियों को समान रूप से देखे, तो दुख की मात्रा कम अवश्य हो जाती है। यह विचार धारा भारतवर्ष की बहुत प्राचीन विचार परम्परा है और 'प्रसाद' जी ने कदाचित् इसे गीता से ग्रहण किया है। अरुणाचल-आश्रय के लोग मंत्र-मुग्ध होकर आनंद की बातें सुनते हैं। उन्हें संदेह होता है—वे 'आनद' से वादविवाद करते हैं, परंतु अधिकांश लोग 'आनंद' की दलीलों के सामने ठहर नहीं पाते। हाँ, 'वनलता' अवश्य अपने पति के उपेक्षाभाव की अंतर्ज्वाला के हाहाकार से लिपटी हुई, 'आनंद' के तर्क में बिलकुल सार नहीं देखती। प्रेम के केंद्रित करने के कारण उसे कष्ट है और महान् कष्ट है परंतु 'आनंद' की बातों को वह केवल तार्किकों का इंद्रजाल समझती है। अंत में हृदय की विजय होती है, और यह प्रमाणित हो जाता है कि प्रेम के विशेषोन्मुख के विना हृदय को शांति नहीं मिलती। ज्ञानी चाहे जितना सिखावे कि संसार में सब को समान समझना चाहिए, परंतु प्रेमी अपने प्रियतम को खोज निकालने

के लिये सदा तत्पर रहता है—यह व्यवसाय सृष्टि के आदि काल से चला आ रहा है। प्रेम को केंद्रित न करके समान रूप से सबकी ओर ले जाना व्यवहार-क्षेत्र में कभी-कभी उच्छृंखलता पैदा कर देता है, जिसका परिणाम व्यभिचार हो सकता है। कभी-कभी यह भी हो सकता है कि सबको समान भाव से प्रेम करने वाला सिद्धांती किसी को भी प्रेम न करके विरक्त हो जाता है। अन्यथा 'आनंद'-ऐसा जागरूक व्यक्ति भी सब समान भाव से प्रेम करने की झोंक में आकर एक विवाहिता स्त्री, वनलता, से कह बैठता है—"क्या आप मुझे प्यार करने की आज्ञा देंगी ?" यहीं से उसके सिद्धांत की व्यावहारिक शिथिलता झलकने लगती है। एक घूँट में 'प्रसाद' जी ने इसी उपयोगी दार्शनिक और सामाजिक गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न किया है। अन्य नाटकों में भी प्रायः इसी प्रकार का, कोई-न-कोई आदर्श लेकर उसके उभय पक्षों पर निष्पक्ष विवेचन किये गये हैं। उनकी ये दार्शनिक विवेचनाएँ समझने और मनन करने की वस्तु हैं, और समाज के व्यवहार पक्ष पर उनसे बड़ा प्रकाश मिलता है।

इस एकांकी नाटक में आठ पात्र आते हैं। 'आनंद' एक प्रकार से प्रमुख पात्र है। अपनी आकृति और पहनावे से वह एक बनारसी घुमक्कड़ धनी युवक मालूम होता है। अरुणाचल-आश्रम में अपने सिद्धांत के प्रचार के लिये यह आता है। यह विद्वान् है और विवाद-पटु भी। दुःख के अस्तित्व को यह स्वीकार नहीं करता, और उसे काल्पनिक मानता है। स्वतंत्र प्रेम का प्रचार इसका ध्येय है। जिससे यह विवाद करता है, उसे अपनी प्रभावशालिनी वाग्चातुरी से विजित कर लेता है। उसके शब्द इतने गूढ़ और तर्क इतने गंभीर होते हैं कि उनके चक्कर में पड़कर इसकी बातों पर लोग विश्वास करने लगते हैं। प्रेमलता, जो आश्रम की अविवाहिता बालिका है, तर्क-वितर्क करके भी और हृदय के अनुमोदन न करने पर भी,

मस्तिष्क से इसके पक्ष में हो जाती है। रूपक के कुछ अच्छे-से-अच्छे वाक्य और और अच्छे-से-अच्छे भाव नाटककार ने आनंद के मुख से कहलाए हैं, जैसे—

"विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम 'जीवन' है। जीवन का लक्ष्य सौंदर्य है, क्योंकि आनंदमयी प्रेरणा, जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, स्वस्थ अपने आत्मभाव में, निर्विशेष रूप से, रहने पर सफल हो सकती है। दृढ़ निश्चय कर लेने पर उसकी सरलता न रहेगी अपने मोह-मूलक अधिकार के लिये वह झगड़ेगी।"

पुनश्च—"आनंद का अंतरंग सरलता और बहिरंग सौंदर्य है, इसी में वह स्वस्थ रहता है।"

कुछ नवीन तत्त्वखंडों पर अनूठे ढंग से प्रकाश डाला गया है। भावों की गहनता के कारण भाषा कुछ दुरूह और कठिन है, किंतु यह अभिव्यक्ति इससे सरल ढंग से लिखे जाने पर इतनी कवित्व-पूर्ण न रह सकती। ध्यान से पढ़ने पर अर्थ स्पष्ट हो जाता है। एक अप्रतियोगी मुलम्मावादी के समान दुःख की विवेचना में कितनी सुंदर उपमा का आश्रय लेकर 'आनंद' कहता है—

"अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दुःख के काजल आँखों के आँसू में घोल कर सृष्टि के सुंदर कपोलों को क्यों कलुषित करें?"

और आगे आनंद' की सर्वकालीनता प्रमाणित करने के लिये विश्व के आदर्श को उदाहरण के लिये प्रयोग करता है। शब्द ये हैं—

"उँह, विश्व विकास-पूर्ण है; है न? तब विश्व की कामना का मूल रहस्य आनंद' ही है। अन्यथा वह विकास न होकर दूसरा ही कुछ होता।"

एक स्थान पर और भी 'आनंद' ने एक बड़ी सुंदर उक्ति कही है।

"अपने दुःखों से भयभीत कंगाल दूसरों के दुःख में श्रद्धावान् बन जाता है।"—जहाँ कहीं किसी स्वरूप में दुःख दिखाई देता है, 'आनंद' उसकी निंदा करता है। रसाल के कारुणिक गीत के लिये रसाल को झिड़कता है। चँदुला की विनोद-प्रिय बातों से हर्षित न होकर वह उसके दुखी जीवन से निष्कर्ष-विशेष निकालने लगता है, और अपने निष्कर्ष को, एक बड़े सुन्दर रूपक में, श्रोताओं को व्यक्त करता है।

"यह जो दुःखवाद का पचड़ा सब धर्मों ने, दार्शनिकों ने गाया है, उसका रहस्य क्या है? डर उत्पन्न करना! विभीषिका फैलाना, जिससे स्निग्ध-गंभीर जल में अबोध गति से तैरनेवाली मछली-सी विश्व-सागर की मानवता चारों ओर जाल-ही-जाल देखे, उसे जल न दिखाई पड़े! वह डरी हुई संकुचित-सी, अपने लिए सदैव कोई रक्षा की जगह खोजती रहे। सबसे भयभीत, सबसे सशंक!"

व्यवहार-रूप में आनंद का सिद्धांत कहाँ पर गिर जाता है, उसका प्रमाण स्वयं 'आनंद' के इन वाक्यों से मिलता है—

"श्रीमती मैं तो पथिक हूँ, और संसार ही पथिक है। सब अपने-अपने पंथ पर घसीटे जा रहे हैं, मैं अपने को ही क्यों कहूँ। एक क्षण एक युग कहिए, या एक जीवन कहिए; है वह एक ही क्षण, कहीं विश्राम किया, और फिर चले। वैसा ही निर्मोह प्रेम संभव है। सबसे एक-एक घूँट पीते-पिलाते नूतन जीवन का संचार करते चल देना। यही तो मेरा संदेश है।'

कदाचित् 'आनंद' ने स्वयं यह न समझा होगा कि व्यवहार-पक्ष में उसके इन वाक्यों का अर्थ व्यभिचार भी लगाया जा सकता है। यही पकड़कर 'वनलता' उनको ठिकाने लाती है।

'आनंद' का जीवन वास्तव में आरंभ से लेकर अंत तक एकरस है। अंत में जब वह वनलता की दलीलों से कुछ शिथिल पड़ जाता है और प्रेमलता के प्रति एक अव्यक्त गुदगुदी उसे आक्रांत कर लेती है, तब वह अपनी स्थिति पर सँभलता है। अपने सिद्धांत पर पुनः दृष्टिपात करता है, और उसके खोखलेपन को स्वीकार कर लेता है। उसमें बल था, तर्क था और मानसिकता थी, परन्तु उसमें भावुकता और मनोवेग न था, जिस पर हृदय टिक सकता। 'आनंद' ने इसे अंत में ताड़ा और खोकर ताड़ा। परंतु अंत में जो कुछ उसे मिला, वह उसके हृदय के परिष्कार के लिये अलम् था।

इस नाटक की दूसरी उल्लेख्य पात्री 'वनलता' है। यह आश्रम के कवि रसाल की गृहिणी है। उसका प्रेम 'रसाल' के प्रति बड़ा तीव्र और गंभीर है। 'रसाल' कविता में इतना व्यस्त रहता है कि उसे 'वनलता' की अंतर्वेदना का अध्ययन करने का अवकाश नहीं रहता। 'वनलता' दुखी होकर चारों ओर घूमा करती है, उसे कहीं शांति नहीं मिलती। अपने पति की कविताओं में जहाँ कहीं उसे विरक्ति-भाव देख पड़ता है, वह मर्माहत हृदय से और भी तड़प उठती है। उसका सारा दुःख यही है कि उसका पति उसके प्रेम का प्रत्युत्तर नहीं देता। उसकी अंतर्वेदना को नहीं सुनता।

दुखी होते हुए भी 'वनलता' विनोद-प्रिय है। वह अपने पति का, जहाँ कहीं अवसर मिलता है, मजाक उड़ाती है। उस मजाक का परिहास उपहास तक नहीं पहुँचता। 'वनलता' एक विदुषी स्त्री के स्वरूप में सामने आती है। इसलिए रसाल जब व्याख्याता बनने का स्वाँग रचता है, तो वह कैसी चुटकी लेती है—

"छोटी-छोटी कल्पनाओं के उपासक! सुकुमार सूक्तियों के संचालक! तुम भला क्या व्याख्यान दोगे?"

इस व्यंग्य में कितना अप्रिय सत्य निहित है। 'वनलता' पूर्वीय रमणी का हृदय रखने-वाली भारतीय पातिव्रत धर्म से ओत-प्रोत होने पर भी सारा बाहरी व्यवहार तथा बातचीत पाश्चात्य महिला के समान करती है। कदाचित् भारतीय रमणी ऐसे व्यंग्य-पूर्ण वाक्य-शल्यों का प्रयोग अपने पति के प्रति न करती, और न पश्चिमीय महिला अपने अन्यमनस्क पति पर इतना उत्कट प्रेम ही दिखाती। इस दुरंगे स्वरूप का निर्माण साभिप्राय किया गया है। अरुणाचल ऐसे आश्रम में जहाँ दार्शनिकों की भीड़ है, और ऊँचे-ऊँचे दार्शनिक तत्त्वों की ऊहापोह के लिये तर्क का अप्रतिहत प्रयोग किया जाता है, वहाँ घूँघटवाली भारतीय रमणी टिक नहीं सकती थी। वादविवाद के लिये उसे पश्चिमीय रंग देना अनिवार्य था। पूरी कथा में शिष्ट प्रयोग द्वारा हास्यरस का संचार करने के लिये जिस पात्र को 'प्रसाद' जी ने नियोजित किया है, वह 'वनलता' ही है। चँदुला का विनोद तो जनसाधारण का मन बहलाव है वह उसी के योग्य है। चंचल और वाचाल 'वनलता' में भारतीय रमणी का सुन्दर स्वरूप झिलमिलाते हुए आवरण के भीतर प्रकाश की भाँति फूटा निकलता है। पाठकों को यदि करुण और हास्य का कुछ अस्वाभाविक सम्मिश्रण इस पात्र में दृष्टिगत हो, तो ऊपर के विवेचन से उसका निराकरण कर लें।

नाटक में 'वनलता' की उक्तियों का महत्त्व 'आनंद' की उक्तियों से कम नहीं है। आरंभ में सबसे पहले इसी पात्र के दर्शन होते हैं। इसका पति बातचीत में उसके सामने ठहर नहीं सकता। आनंद भी इसकी उक्तियों से घबरा जाता है। वह कह बैठती है—

"केवल पेट की ही भूख प्यास तो मानव-जीवन में नहीं होती; हृदय को भी टटोलकर देखा है ?"

संसार का उसे इतना ज्ञान है कि वह समझती है कि 'प्रेमलता' और 'आनंद' की बहस में हृदय ही अंत में जीतेगा। उसका पति

जब वक्तृता देने का प्रयास करता है, तब उसे बहुत छेड़ती है। लोगों को यह अखरता भी है, परंतु वह ऐसा करना अपना अधिकार समझती है। वैसे तो वह पति के उपेक्षा भाव के कारण छलछलाए हुए नेत्र लिए घूमा करती है, और ऐसा मालूम होता है कि यदि किसी ने छेड़ा, तो वह रो देगी, परंतु वह इस अधिकता को अपनी कथोपकथन-पटुता के व्यंग्य में छिपाए रहती है झाड़ू वाले से विवाद करते समय वह उसकी पत्नी का पक्ष लेकर प्लेटो और अरस्तू के विचारों को सुनाने लगती है। इससे इस पात्री की विद्वता का पता चलता है। परंतु रह-रहकर उसका मानसिक स्थिति उभर पड़ती है। अपने हृदय को इससे अधिक उसने कदाचित् ही कहीं भी न खोला होगा।

"यही तो, इसे कहते हैं झगड़ा, और यह कितना सुखद है। एक दूसरे को समझकर जब समझौता करने के लिये, मनाने के लिये, उत्सुक होते हैं, तब जैसे स्वर्ग हँसने लगता है—हाँ, इसी भीषण संसार में। मैं पागल हूँ। सोचती हुई करुण मुख-मुद्रा बनाती है। फिर धीरे-धीरे सिसकने लगती है।) वेदना होती है। व्यथा कसकती है। प्यार के लिये। प्यार करने के लिये नहीं, प्यार पाने के लिये। विश्व की इस अमूल्य सम्पत्ति में क्या मेरा अंश नहीं है। इन असफलताओं के संकलन में मन बहलाने के लिये जीवन-यात्रा में थके हृदय के संतोष के लिये कोई अवलम्ब नहीं। मैं प्यार करती हूँ और प्यार करती रहूँ; किंतु मानवता के नाते—इसे सहने के लिये मैं कदापि प्रस्तुत नहीं। आह! कितना तिरस्कार है। (सिर झुका-कर सिसकने लगती है।)"

और आगे कहती है—

"संसार में लेना तो सब जानते हैं, कुछ देना ही तो कठिन कार्य है।"

व्यंग्य में लपेटे हुए 'वनलता' के ये शब्द ध्रुव सत्य हैं। दूसरे का प्रेम सभी चाहते हैं। 'आनंद' जब बातों में फँसकर 'वनलता' को न समझकर प्रेम करने को स्वयं उद्यत हो जाता है, तब जो झिड़की 'वनलता' देती है, उसकी झेंप का रंग 'आनंद' की आकृति से अंत तक नहीं छूटता। 'वनलता' कहती है—

"मैं जिसे प्यार करती हूँ, वही—केवल वही व्यक्ति—मुझे प्यार करे, मेरे हृदय को प्यार करे, मेरे शरीर को—जो मेरे शरीर का सुंदर आवरण है—सतृष्ण देखे। उस प्यास में तृप्ति न हो, एक एक घूँट वह पीता चले; मैं भी पिया करूँ। समझे? इसमें आपकी कोरी दर्शनिकता या व्यर्थ के वाक्यों को स्थान नहीं।" अंतिम वाक्य में कैसा मनोहर व्यंग्य है। इसमें विनोद नहीं, इसमें मानसिकता नहीं। इसमें करुणा से मिला हुआ सत्य परिहास के रूप में व्यक्त किया गया है। 'आनंद' कुछ सँभलता है और उसे 'वनलता' के इन वाक्यों में कि—

"असंख्य जीवनों की भूलभुलैया में अपने चिर-परिचित को खोज निकालना और किसी शीतल छाया में बैठकर एक घूँट पीना और पिलाना।"

एक नवीन आधार मिलता है, जिस पर उसका मन रमता है। उसमें विशाल परिवर्तन हो जाता है। 'वनलता' को भी अंत में उसका स्वामी 'पहचान' लेता है। 'प्रेमलता' और 'आनंद' को मिलाकर अपने पक्ष की विजय और 'आनंद' की दार्शनिक व्याख्या की पोल पर वह चुटकी नहीं लेती, केवल हँसती है। जिस विषय की विवेचना इस रूपक का मुख्य ध्येय है, ऊहापोह में उभय पक्ष के दो पात्र 'आनंद' और 'वनलता' ही हैं। अतएव 'वनलता' को 'एक घूँट' की प्रमुख पात्री कहना अनुपयुक्त न होगा।

'प्रेमलता' अरुणाचल-आश्रम की एक अविवाहिता कन्या है। आनंद' की ओर उसका आकर्षण हो जाता है। वह बड़े गौरव

और तर्क के साथ 'आनंद' से बहस करती है। 'आनंद' की इस भावना को कि दो परस्पर विचारों को परस्पर लड़ा दो, और तटस्थ की भाँति आप उनका झगड़ा देखो, 'प्रेमलता' झट यह कहकर काट देती है कि—

"विचारों का आक्रमण तो मुझी पर होता है।"

परंतु फिर भी 'प्रेमलता' कन्या ही है। 'आनंद' उसे स्कूली बालिका की भाँति पढ़ाता है और उसे सोचने का भी अवकाश नहीं देता। 'प्रेमलता' जब 'आनंद' के मुक्तभावावादी वाग्जाल को स्पष्ट नहीं कर पाती है, तो 'आनंद' उसकी खिल्लियाँ उड़ाता है। इसी वाग्विलास में अनजाने वह 'आनंद' पर आसक्त हो जाती है। और 'आनंद' की रूखी बातों से खीझकर कहने लगती है—

"आनंद, आनंद, यह तुम क्या कह रहे हो? इस स्वच्छंद प्रेम में तुमसे क्या आशा?"

आगे भी कहती है—

"यह कितनी निराशामयी शून्य कल्पना है।"

'प्रेमलता' संगीत-प्रिय है। वह जो पहला गाना गाती है, वही बड़ा मार्मिक है। उसकी पहली कड़ी इस प्रकार है—

"जीवन-वन में उजियाली है।
यह किरनों की कोमल धारा
बहती ले अनुराग तुम्हारा;
फिर भी प्यासा हृदय हमारा।
व्यथा घूमती मतवाली है।"

इस गाने ने प्रेमलता की मनोभावना को 'आनंद' तक बहुत स्पष्ट शब्दों में पहुँचा दिया होगा। जीवन रूपी वन-खंड प्रदेश में प्रकाश-ही-प्रकाश है। इस वनखंड को प्रकाश करने वाली

किरणें तुम्हारा (आनंद का) स्नेह लेकर धारा की भाँति प्रवाहित हो रही हैं। अर्थात् तुम्हारा सर्वदेशी प्रेम जीवन की प्रत्येक परिस्थिति तक पहुँचता है; परंतु फिर भी मेरा हृदय प्यासा ही है। अर्थात आपके स्वच्छंद प्रेम में मेरी प्रेम-पिपासा तृप्त नहीं होती, और व्यथा पागल की भाँति मतवाली होकर घूम रही है। अर्थात् मुझे कष्ट-ही-कष्ट है। साथ-ही-साथ इस पद में परोक्ष का ओर भी संकेत है। उस अखंड सत्ता का आलोक जीवन के प्रत्येक भाग पर पड़ता है, और उसकी दया प्रत्येक परिस्थिति में उपलब्ध है। परंतु फिर भी उपासक का ससीम हृदय असीम हृदय-विरह में तीव्र वेदना अनुभव करता है। यह परिस्थिति उस समय तक रहती है, जब तक ससीम का असीम से पूर्ण तादात्म्य न हो जाय।

'प्रसाद' जी की और भी कविताओं में ऐसे परोक्ष की झलक मिलती है, और इसी कारण वे रहस्यमयी हो गई हैं। 'प्रेमलता' 'आनंद' के साथ-ही-साथ दिखाई देती है। दूसरा गान—'जलधर की माला'—भी प्रेमलता ही गाती है। यह उपयुक्त है कि कोमल कंठ का आयोजन अविवाहिता 'प्रेमलता' के ही लिये किया जाय, नहीं तो तर्क-प्रिय 'आनद' को उसमें मादक आकर्षण कैसे दीखता। जिस समय 'वनलता' और 'आनद' का तर्क होता है, और 'आनंद' परास्त होकर अपने सिद्धांत का खोखलापन देखने लगता है, उस समय 'प्रसाद' जी 'प्रेमलता' को वहाँ से हटा देते हैं। यह क्रिया साभिप्राय है। 'वनलता' खुलकर बात कर सकती है, और 'प्रेमलता' अपने प्रियतम का पराभव नहीं देखने पाती। अंत में दोनों का परिणय हो जाता है। प्यासी 'प्रेमलता' का प्रेम मिल जाता है, रूखे 'आनंद' को अपनी भूल ज्ञात हो जाती है।

'रसाल' इस अभिनय का चौथा पात्र है। इसका एक उपयोगी स्थान है। 'रसाल' की प्रतिकृति संसार में बहुत तो न होंगे, परंतु

होंगे अवश्य। वह अंतर्जगत् में इतना लीन रहता है कि उसे बाह्य जगत् का कम ध्यान रहता है। उसके मनोभाव की सुंदर व्याख्या स्वयं उसकी पत्नी बड़े अनूठे शब्दों में करती है—

"निरीह भावुक प्राणी जंगली पक्षियों के बोल, फूलों की हँसी और नदी के कलनाद का अर्थ समझ लेते हैं, परंतु मेरे अंतर्नाद को कभी समझने की चेष्टा भी नहीं करते।"

विद्या-व्यसनी, कला-प्रेमी और कवि अपने आप ही में डूबा रहता है। हमीं लोगों में कितने 'रसाल' मिल सकते हैं। यह बात नहीं कि 'रसाल' पत्नी को चाहता न हो। परंतु 'वनलता' के प्रेम की गहनता और तीव्रता का वह अनुमान ही न कर सकता था, और इसी कारण उसका प्रत्युत्तर देने में वह सर्वथा असमर्थ था। यह उसकी सजग उपेक्षा न थी, बरन् अनजाने का अपराध था, परंतु इसमें 'वनलता' को बड़ी ठेस लगती थी। वह जो एकाग्रता और तन्मयता चाहती थी, वह 'रसाल' उसे नहीं दे सकता था। कारण यह था कि उसकी वृत्ति एक दूसरी ही ओर लीन थी—कविता-देवी की आराधना में। वह उसी ओर तन्मय था।

हाँ, तो यह न समझना चाहिए कि 'रसाल' अपनी पत्नी को उपेक्षा-भाव से देखता था। वह उसे विनोद द्वारा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करता था। पीछे से आकर वह अपनी पत्नी के नेत्र बंद कर लेता है। उसके पहनने के लिये सुंदर साड़ी ले आता है। उसे वाक्-चातुरी से रिझाने का भी प्रयत्न करता है। जब वनलता न पहचान सकी, तो रसाल कहता है—

"जानोगी कैसे लता! मैं भी जानने की, स्मरण होने की वस्तु होऊँ तब न? अच्छा तो है, तुम्हारी विस्मृति भी मेरे लिये स्मरण करने की वस्तु होगी।"

परंतु इन बातों में हृदय का साक्षात्कार नहीं। वे केवल मन की गढ़ी हुई कवि की बातें हैं, जिससे उसकी पत्नी धोखे में आकर कवि का प्रेमालाप समझे। परंतु 'वनलता' मूर्ख न थी। बातें उसे भी बनाना आती थीं। वह यह जानती थी कि 'रसाल' प्रेम से आकृष्ट होकर उसके पास नहीं आया है, वरन् उसका आना साभिप्राय है। वह केवल यह चाहता है कि उसकी पत्नी भी उसके सुंदर भाषण को सुने, जो वह 'आनंद' के परिचय में देना चाहता है, और सबके साथ 'वाह-वाह' करे। कलाविद् की यह निश्छल आकांक्षा निंदनीय तो नहीं कही जा सकती, परंतु इसकी पूर्ति के लिये पत्नी को प्रेम करने का स्वाँग स्वयं पत्नी से करना, जो सारे मनोभाव से अभिज्ञ है, कपट की पराकाष्ठा है। संभव है, कदाचित् 'रसाल' यह समझता हो कि ऐसा न करने से उसकी पत्नी भाषण में न जायगी परंतु यह उसका भ्रम था। वह 'वनलता' के हृदय को अच्छी तरह परख नहीं पाया। चलने का प्रस्ताव वह बड़ी समझदारी के साथ रखता है, परंतु यह स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि यही उसके आने का प्रधान कारण है। रह-रह कर वह अपने जाने की व्यग्रता दिखाता है। पत्नी से बात करने में उसकी अन्यमनस्कता प्रदर्शित होती है। जो-जो विवाद 'वनलता' उठा देती है, वह उसे टाल देता है। हाँ, जब उसकी कविता की चरचा होने लगती है, तब वह मनोयोग से वाग्विलास करता है। स्त्री के विनोद अथवा उसकी फटकार से वह क्षुब्ध नहीं होता। वह कदाचित् अपने को अपराधी समझता है और पत्नी की वचन-बाणावली को सुनी-अनसुनी कर देता है।

व्याख्यान के समय 'वनलता' 'रसाल' को बहुत टोकती और बनाती है, परंतु वह तनिक भी क्षुब्ध नहीं होता। कहीं-कहीं पर वनलता की बातें शिष्टता की परिधि का भी उल्लंघन कर जाती हैं, और लोग उसे बुरा भी मान जाते हैं, परंतु अपराधी 'रसाल'

मूक की भाँति सब सहन कर लेता है। 'रसाल' के चरित्र से यदि विद्वत्ता और कवित्व-गुण बहिष्कृत कर दिये जायँ, तो वह 'रिपवान् विंकिल' की प्रतिकृति हो सकता है। भाषण देते देते वह घबरा जाता है। 'वनलता' उस पर फबतियाँ कसती जाती है।

विद्वान् होते हुए भी 'रसाल' का कोई निजी चरित्र नहीं है। वह पवन की दिशा-विज्ञापन करनेवाले झंडे की भाँति दूसरे के प्रवाह में बह जाता है। बिना चू किये वह अपनी कविता के संबंध में मान लेता है—

"मैं स्वीकार करता हूँ कि यह (दुःखात्मक काव्य) मेरी कल्पना की दुर्बलता है। मैं इससे बचने का प्रयत्न करूँगा।"

और फिर 'आनंद' से इतना प्रभावित हो जाता है कि उसके प्रेम-विषयक सिद्धांत को उससे भी अधिक वेग के साथ उद्बोधित करने लगता है। एक स्थान पर अपने संभाषण में कहने लगता है—"सीखिए कि हम मानवता के नाते स्त्री को प्यार करते हैं।" वास्तव में यह सिद्धांत उसके व्यवहार पक्ष का समर्थन करता है। परंतु जहाँ 'वनलता' इस उक्ति पर एक विवाद छेड़ देती है, तो चुप होकर बैठ जाता है। उसमें विवाद-शक्ति बिल्कुल नहीं है। 'चँदुला' से बात करने में 'हाँ-हूँ' के अतिरिक्त कोई शास्त्रार्थ करने की आवश्यकता न थी, और वहाँ पर हम 'रसाल' को बात-चीत करते पाते हैं।

अंत तक 'रसाल' 'आनंद' की बातों में रहा। उसी के सिद्धांत मन में जमे रहे। इससे वह अपने अपराध को न्याय-संगत प्रमाणित कर सकता था, परंतु अंत में जब उसने 'आनंद' और 'वनलता' की बातचीत सुनी, और अपनी स्त्री के अनन्य भाव के प्रेम की परीक्षा नेत्रों के समक्ष ले ली तथा 'आनंद' का खोखलापन भी देखा, तो सहसा अपनी पत्नी से कहने लगता है—"प्रिये! आज तक मैं भ्रांत था। मैंने आज पहचान लिया। यह कैसी भूलभुलैया

थी।" प्रसाद जी ने यह परिवर्त्तन सहसा उपस्थित नहीं किया। दर्शक इसके लिये तैयार रहते हैं, अतएव इसमें अस्वाभाविकता नहीं।

'चँदुला' एक विदूषक है। 'आनंद' के लिये वह सीमित प्रेम की परिधि में आनंद लेनेवाला कीड़ा है। परंतु कवि का अभिप्राय उसके द्वारा जीवन की एक विशेष परिस्थिति पर प्रकाश डालना है, जो नितांत सत्य है। व्यंग्य और परिहास की मीठी चीनी मे लपेटकर वह जीवन का कड़ुआपन कंठ के नीचे उतारने का प्रयास करता है। विज्ञापन लगी हुई उसकी खोपड़ी को देखकर जब 'रसाल' कहता है कि तुमने यह क्या भद्दापन अंकित कर रक्खा है, तो कितनी शीघ्रता के साथ 'चँदुला' उत्तर देता है—"प्राय: लोगों की खोपड़ी में ऐसा ही भद्दापन भरा रहता है। मैं तो उसे निकाल बाहर करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। आपको इसमें सहमत होना चाहिये। यदि इस समय आप लोगों की कोई सभा, गोष्ठी या ऐसी ही कोई समिति इत्यादि हो रही हो, तो गिन लीजिये; मेरे पक्ष में बहुमत निकलेगा।" यह कितना अप्रिय सत्य है। शेक्सपियर और कालीदास के विदूषकों की भाँति 'चँदुला' भी मूर्खता और सज्ञानता का एक अनोखा सम्मिश्रण है।

विदूषक रखने की परिपाटी प्राय: सभी प्राचीन नाटककारों ने स्वीकार की है। केवल भवभूति ही इस नियम के अपवाद हैं। नाटक के लक्षणकारों का मत है कि विदूषक का प्रादुर्भाव नाटकों में धार्मिक दृष्टि से किया गया है। वास्तव में नाटकों का इतिहास यह बतलाता है कि उनका प्रारम्भ धार्मिक भावनाओं के प्रदर्शन से हुआ। यूनानी नाटकों में भी 'क्लाउन' एक प्रकार का विदूषक ही है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि यूनानियों ने वास्तव में अपने नाटकों में 'क्लाउन' का समावेश विदूषक के अनुकूल ही किया है।

पश्चिमी विद्वान् विदूषक के संबंध में अपना-अपना भिन्न मत रखते हैं। 'लेवी' साहब का कहना है कि वह नायक और नायिका का समाचार-वाहक था। दोनों में प्रेम उत्पन्न कराना उसका काम था। 'केनाव' साहब का कहना है वह केवल एक 'मसखरा' व्यक्ति था, जिसे क्षण-क्षण विनोद करना अभीष्ट था। 'कीथ' साहब का यह अनुमान बहुत-कुछ ठीक प्रतीत होता है कि विदूषक एक विद्वान् ब्राह्मण होता था। उनका कहना है कि भवभूति भी एक ब्राह्मण थे। अतएव उन्हें एक ब्राह्मण को 'मसखरा' बनाकर उसके कपड़े और मुँह रँगवा कर जनता के सामने उसकी हीनावस्था दिखाना अभीष्ट न था। संस्कृत नाटकों में 'प्राकृत' भाषा निम्न कोटि के पात्र अथवा स्त्रियाँ बोलती हैं। विदूषक को भी संस्कृत नाटककारों ने 'प्राकृत' ही बुलाना ठीक समझा था। अतएव यह भी उनके अपमान का कारण था। विनोद-प्रिय कालिदास चाहे इसे पसंद करते, परंतु काव्य का उच्च और गम्भीर सिद्धांत रखने वाले भवभूति इसे पसंद न करते थे। सम्भव है कि 'कीथ' साहब की कल्पना ठीक हो।

परंतु एक बात और भी है। कालिदास गुप्तों के समृद्धशाली युग में रहे हैं। राज-सम्मान के वे सदैव पात्र रहे हैं। दुःख की अनुभूति उन्हें स्वप्न में भी न हुई थी। सर्वत्र आनंद-ही-आनंद और प्रकाश ही प्रकाश उन्हें मिलता रहा है। उनकी प्रत्येक पंक्ति में निर्द्वंदता और विनोद-प्रवाह की लहर दृष्टिगत होती है। अतएव उन्होंने विदूषक की व्यवस्था करके अपने आनंद-स्रोत को द्विगुणित रूप से प्रवाहित कर दिया। उनके परवर्ती कवियों ने इनका अनुकरण कर विदूषक की प्रथा चला दी।

भवभूति पर भगवान् इतने प्रसन्न थे कि इन्हें दरिद्रता के कारण अपना घर छोड़कर सातसौ मील दूर उज्जैन आना पड़ा। करुणा की अनुभूति से उनका जीवन करुणामय हो गया।

एको रसः करुण एव निमित भेदा-
द्भिन्नः पृथक् पृथगिवश्रयते विवर्त्तान ।

भवभूति केवल करुणा को ही मुख्य रस मानते थे । उन्हें विनोद की बातें ओछी मालूम होती थीं। भावनाओं की गहनता, मनोवृत्तियों का उफान, कल्पनाओं की जटिलता का हास्य-रस में कोई स्थान नहीं है । वास्तव में उनके मनोभाव का अनुशासन ही इस प्रकार किया गया था कि उसमें हास्य-रस का पूर्ण प्रस्फुटन होना असम्भव था । यही कारण है, कि 'भाण्डायन' और 'सौधातिकी' उत्तर-रामचरित्र में हास्य-रस के उत्पन्न करने में यथेष्टरूप से सफल नहीं होते । उनके हास्य-रस में भी करुणा का अदृश्य पुट है । उन्हें करुणा में ही अत्यंत आनंद आता है ।

हमारे देश के नाटककारों ने समाज की व्यवस्था को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है । उनमें दार्शनिक असंतोष दृष्टिगत नहीं होता । यूनानी नाटकों की भाँति समाज की व्यवस्था के प्रति आवाज़ उठाने की प्रणाली उनमें नहीं है ।

भवभूति पहले नाटककार हैं जिन्होंने इस क्षति की पूर्ति की । समाज के अन्याय के प्रति, जो उसने रामचन्द्र के प्रति किया था, उन्होंने हमारा ध्यान आकृष्ट किया । दार्शनिक असंतोष की झलक तो उनके नाटक-भर में दिखाई देती है । ऐसी अवस्था में उनके मनोभाव विनोद की ओर कैसे अग्रसर हो सकते थे ?

यही कारण है कि भवभूति ने विदूषक को अपने नाटकों में स्थान नहीं दिया ।

कुशल नाटककारों को, हास्यरस के निरूपक पात्रों को एक ओर तो भद्देपन से बचाने का प्रयत्न करना पड़ता है और दूसरी ओर वे कहीं अनाकर्षक न हो जायँ इसका ध्यान भी रखना पड़ता है । हास्यरस के संपादन के साथ-साथ प्रसंग में उनका अबाध प्रयोजन

भी उपस्थित करना पड़ता है। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर हम निस्संकोच कह सकते हैं कि 'चँदुला' बहुत अंश तक सफल विदूषक है। उसमें स्वाभाविकता लाने का काफ़ी प्रयत्न किया गया है। बहुत से विदूषक हास्यरस के उद्रेक का एक-मात्र साधन स्वाभाविकता से कोसों दूर बेसिर-पैर की बातों को बकने लगना समझते हैं। चार आने के टिकट वाले चाहे जितने वेग से इन प्रदर्शनों पर अट्टहास करें, परन्तु शिष्ट जनों को इससे संतोष नहीं होता। ऐसा विनोद मानव-भावना की गहनता को स्पर्श न करके केवल इंद्रियों को थोड़े काल के लिये गुदगुदा देता है। परंतु 'चँदुला' का हास्य इस कोटि से ऊपर है।

'चँदुला' से एक काम लेखक ने और लिया है। 'आनंद' सुख-सुख चिल्लाता है, आनंद-आनंद उद्घोषित करता है। सुख और आनंद की अनुभूति पृथक् पृथक् लोगों को किन साधनों से होती है, इस पर व्याख्याता का ध्यान न गया था। सुख के उपकरण का कैसा विकृत रूप 'चँदुला' उपस्थित करता है—"आश्चर्य क्यों होता है, महोदय! मान लिया कि आपको मेरा विज्ञापन देखकर आनंद नहीं मिला, न मिले; किंतु इन्हीं पंद्रह दिनों में जब मेरी श्रीमती हार पहनकर अपने मोटे-मोटे अधरों की पगडंडी पर हँसी को धीरे-धीरे दौड़ावेंगी, और मेरी चँदुली खोपड़ी पर हल्की-सी चपत लगावेंगी, तब क्या आँखें मूँदकर आनंद न लूँगा—आप ही कहिये। आपने विवाह किया है तो।" आनंद घबरा जाता है और कहने लगता है—"अंतरात्मा के उस प्रसन्न गंभीर उल्लास को इस तरह कदर्थित करना अपराध है।" 'चँदुले' की सहायता से 'आनंद' की भी समीक्षा हो जाती है। हमारा विश्वास है कि 'चँदुले' का पात्रत्व सजीव और रोचक है।

'झाड़ूवाले' का आयोजन करके अरुणाचल को साबरमती अथवा शांतिनिकेतन के अनुकूल बनाने की चेष्टा की गई है। पढ़ा-

लिखा व्यक्ति झाड़ू लगाकर इस आश्रम में केवल इसलिये जीवन-निर्वाह करता है कि उसे शांति मिले। परंतु उसकी स्त्री में त्याग के भाव अभी नहीं आए। वह उजली साड़ी और सितार के लिये उससे झगड़ती। उनके प्रवेश से 'आनंद' की मंडली में सीमित प्रेम के विरूप स्वरूप का एक और प्रदर्शन समक्ष आ जाता है। साथ-ही-साथ स्वास्थ्य, सरलता और सौंदर्य के व्यवहार का अभाव भी सामने चित्रित हो जाता है। वनलता के यह कहने पर कि "तुम तो समझदार हो।" झाड़ूवाला कैसी सुंदर मीठी चुटकी के स्वरूप में तथ्य का स्वरूप खड़ा करता है। वह कहता है—"हाँ, देवि! किंतु समझदारी में एक दुर्गुण है। उस पर अन्य लोग चाहे कितने ही अत्याचार करें, परंतु वह नहीं कर सकता, ठीक-ठीक उत्तर भी नहीं देने पाता।" किस प्रकार लोग प्राचीनों की दुहाई देकर व्यावहारिक जीवन में अपने मन की दुर्बलता को आदर्श के रूप में प्रतिपादित करते हैं, इसकी अभिव्यक्ति 'वनलता' के वाक्यों में देखकर 'झाड़ूवाला' बिगड़कर दो-चार प्राचीनों के नाम लेकर नितांत प्रतिकूल सिद्धांत उसी तर्क से सामने रखता है, जिस तर्क को 'वनलता' समझती है। लोग अवाक् रह जाते हैं। 'झाड़ूवाले' के इन शब्दों में कितनी सत्यता निहित है, इसको पाठक स्वयं समझ लेंगे—

"उन्होंने इन बातों को जिस रूप में समझा था, वैसी मेरी और आपकी परिस्थिति नहीं, समय नहीं, हृदय नहीं।"

जीवन का आदर्श स्पष्ट करते ही उसकी पत्नी समझ जाती है। दोनों ख़ुशी-ख़ुशी बिदा होते हैं।

'मुकुल' एक तर्कशील व्यक्ति है। किसी भी बात को जमने नहीं देता। कौतूहल से परिपूर्ण, उत्सुकता से ओत-प्रोत, वाग्-विदग्धता से संयत वह इधर-उधर भ्रमण करता है। परंतु उसका कोई विशेष

महत्व रूपक में नहीं है। 'कुंज' और झाड़ू वाले की पत्नी भी अन्य छोटे अभिनेता हैं। उनका कोई उपयोगी महत्व नहीं।

अरुणाचल एक ऐसा स्थान है, जहाँ आदर्श-वादियों का जमघट है। ज्ञान की प्रत्येक दिशा के न केवल तार्किक वाद-विवाद ही वहाँ होते हैं, परंतु उनके व्यवहार-रूप देने का यह आश्रम एक अद्वितीय प्रयोग-शाला है। प्रत्येक व्यक्ति आदर्श तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। इस दृष्टि से वर्तमान साबरमती अथवा शांति-निकेतन से उसकी थोड़ी-बहुत समता दी जा सकती है, परंतु इस समता को अधिक दूर तक नहीं ले जाया जा सकता। अरुणाचल विवाद-शाला अधिक और प्रयोग-शाला कम है।

भारतीय नाट्यकला की परिपाटी के अनुसार 'एक घूँट' दुःखांत है। उसमें भावों की जटिलता के साथ भाषा की भी दुरूहता स्पष्ट है। अतएव इसका बहुत-सा भाग अभिनय के योग्य नहीं। श्रोता और द्रष्टा अभिनय करनेवाले अभिनेताओं को रोककर यह नहीं कह सकते कि अमुक गाना अथवा अमुक भाषण का भाव अथवा भाषा हमारी समझ में नहीं आई, अतएव इनको दोहरा दो। ऐसा करने से रस की निष्प्राप्ति में व्याघात उपस्थित होता है और अभिनय-आनंद में बाधा पड़ती है। अतएव जिन नाटकों में ऐसे कठिन स्थल और गाने आ जाते हैं, वे अभिनय करने के योग्य नहीं रह जाते। 'एक घूँट' में ऐसे कई स्थल हैं, जिसे साधारण लोगों की तो बात ही क्या है, बड़े-बड़े विद्वान् दो-तीन बार बिना पढ़े अर्थ नहीं समझ सकते। यही बात 'प्रसाद' जी के प्रायः सभी नाटकों के लिये है। इस कारण कुछ लोग 'प्रसाद' जी के नाटकों को नाटक ही नहीं कहते। यदि नाटक का उद्देश्य केवल दृश्य काव्य और अभिनय ही है, तो अवश्य यह आरोप प्रसादजी पर लगता है, परंतु अंतिम सम्मति देने के पूर्व हमें भारतीय प्राचीन संस्कृत-साहित्य पर एक दृष्टिपात कर लेना चाहिए।

हृदय के कसमसाते भावों को कवि किसी-न-किसी रूप में बाह्य जगत् में व्यक्त करेगा। दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य दोनों प्रणालियों को अपनी रुचि के अनुकूल वह ग्रहण करेगा। दृश्य काव्य का बाहरी स्वरूप लेकर उसे केवल श्राव्य प्रधान बना देना अथवा श्रव्य काव्य का स्वरूप अंगीकार कर उसमें दृश्य काव्य के स्वरूप-विधान का प्राबल्य कर देना कवियों ने और नाटककारों ने कभी अनुचित नहीं समझा। अपनी सुविधा और भावना के अनुकूल उन्होंने हेर-फेर कर लिए हैं। केशव की रामचंद्रिका में तो इतने सुन्दर कथोपकथन हैं कि उनको पढ़ने और सुनने में उतना आनंद नहीं आता, जितना उनके अभिनय में। गोस्वामीजी की रामायण तो प्रत्येक धनुष-यज्ञ और रामलीला में अभिनय की जाती है; परंतु तो भी वह एक श्रव्य काव्य ही है दृश्य काव्य नहीं। दूसरी ओर उत्तररामचरित, मृच्छकटिक, वेणीसंहार अभिनय करने के लिये भाषा और भाव दोनों ही दृष्टि से दुरूह हैं। भारतवर्ष में कभी भी ऐसा समय नहीं रहा होगा जब भवभूति के बड़े-बड़े समास एक ही बार सुनकर द्रष्टा अवगत कर लेते होंगे। अतएव यह निष्कर्ष निकला कि ये सब दृश्य काव्य पढ़ने और मनन करने की दृष्टि से निर्माण किए गए हैं, अभिनय की दृष्टि से नहीं। प्रसादजी ने भी इसी प्राचीन प्रणाली का अनुसरण किया है, कोई क्रांति उपस्थित नहीं की। उनके नाटक पढ़ने मनन करने और समझने की चीजें हैं।

हमें यह भी समझ लेना है कि केवल अभिनय की दृष्टि से लिखे गए उत्तम नाटकों के लेखकों के समय कितनी कठिनाइयाँ रहती हैं। ज्ञान-विभिन्नता और रुचि-वैचित्र्य का एकांत एकीकरण कितना कठिन है, इसको वे ही लोग समझते हैं। संजीदगी और भोंडेपन के बीच एक बहुत ही झिलमिलाती हुई पतली रेखा है। यदि कवि उसे पकड़ सका, यदि नाटककार ने उस पर अपनी उँगली

रख ली, तो उसे सफलता मिलती है, अन्यथा वह उपहासास्पद ही होता है। जिस क्षितिज पर लोक-रुचि और शिष्ट-रुचि का मेल होता है, वहाँ तक पहुँचना बहुत ही कठिन कार्य है। बहुधा देखा गया है कि जिस नाटक से शिष्ट जनों को रस-प्राप्ति होती और आनंद मिलता है, उसे साधारण लोग पसंद नहीं करते। वे अपनी मन-बहलाव केवल भड़कीली सीन-सीनरी अथवा पाउडर लगी हुई आकृतियों से कर लेते हैं। करुणा के उद्रेक करनेवाले गान को वारविलासिनी के प्रणय-वाणिज्य का पोषक समझ कर करतल-ध्वनि करने लगते हैं। दूसरी ओर जिस गाने अथवा जिस कथा-विन्यास अथवा पात्र में लोक-रुचि निमग्न होती है उसे शिष्ट लोग यह कहकर, 'कुछ नहीं है, भद्दी है' टिप्पणी करते हैं। अतएव उस सच्ची लोक-रुचि को जो एकदेशीय, एक-कालीन न होकर सर्वदेशीय और सर्वकालीन है, और उस काव्य निष्पत्ति का पहिचानना, जो अधिक लोगों को अधिक काल तक सुखप्रद हैं, कोई साधारण कार्य नहीं। हमें तो हिंदी में रामचरित-मानस के अतिरिक्त अभी दूसरा कोई ऐसा ग्रंथ दिखाई नहीं पड़ा।

और नाटकों की भाँति 'एक घूँट' भी विद्वानों के लिये प्रणयन किया गया है, अतएव उसमें दुरूहता का आक्षेप लगाना व्यर्थ है। इसी दृष्टि से कथोपकथन भी लंबे और गंभीर हैं। किसी स्थितिवाले पात्र के मुख से क्या कहलाया जाता है यदि वह बाह्य जगत् के वर्तमान अनुभव से नहीं मिलता, तो लोग उसे झट अस्वा-भाविक कहने लगते हैं। हम इसे अनधिकार चेष्टा और काव्य-अनुशीलन की कमी समझते हैं। यथार्थवाद का झंझावात हम लोगों में से कुछ आलोचकों और लेखों पर भूत की तरह सवार है। कवि किसी दूसरे जगत् का भी कुछ कह सकता है, ऐसे देश की भी अभिव्यक्ति हो सकती है, जहाँ मछुवे भी शास्त्रार्थ करें। आदर्श की भावना यथार्थवादी की सांसारिक दैनिक घटनाओं की उद्-

भावना से कहीं अधिक श्रेयस्कर है। मोपासाँ चाहे कुछ भी कहें, मुझे तो व्यास और वाल्मीकि स्मरण हो आते हैं। यहाँ हम इस विवाद को तूल देना नहीं चाहते। बड़े नाटकों की समीक्षा में इस मत की व्याख्या अधिक समीचीन होगी। 'एक घूँट' में कोई ऐसी बात नहीं। 'झाड़ूवाला' भी उपाधि-धारी ग्रेजुएट है, अतएव उसका कथन, प्रदर्शन न अस्वाभाविक है और न अनुपयुक्त।

हाँ, एक बात प्रसादजी की लोगों को खटकती है। वह कठिन-से-कठिन शब्द ढूँढ़-ढूँढ़कर रखते और साधारण बोल-चाल के शब्दों का तिरस्कार करते हैं। 'गेरुआ पहाड़' न कहकर वह 'अरुणाचल' कहेंगे। 'बातचीत' न कहकर 'वग्विलास' कहेंगे। रोने के स्थान में क्रंदन, प्रकाश के स्थान में आलोक सर्वत्र मिलेंगे। संस्कृत-साहित्य के ज्ञान से वह इतने ओत-प्रोत हैं उनके लिये ये शब्द सरलता से निकलते चले आते हैं। कहीं पर शब्द-दारिद्र के कारण कोई भरती नहीं है। जहाँ पर यह बात खटकती है कि बोल-चाल के मुहावरेवाले शब्दों से अधिक रोचकता और स्वाभाविकता का संचार हो सकता था, वहाँ यह बात भी सबको माननी पड़ेगी कि प्रसादजी ने सैकड़ों की संख्या में ऐसे शब्दों का निर्माण किया होगा, जो शुद्ध संस्कृत की धरोहर हैं, और जिनके भाव भी हिंदी-शब्दों में न थे। प्रसादजी एक-आध फ़ारसी-शब्द भी प्रयोग करते हैं, किंतु बहुत कम।

अभिनय के अनुपयुक्त होने पर भी स्थान-स्थान पर अभिनय का पूर्ण आयोजन 'एकघूँट' में मिलेगा। पात्रों का उपयुक्त संचालन तथा आवश्यकतानुसार प्रवेश सर्वत्र मिलेगा। अपनी भावना के अनुकूल प्रत्यक्ष से परोक्ष का संकेत भी स्थान-स्थान पर मिलता है। उदाहरण के लिये कुछ स्थल दिये जाते हैं—

खोल तू अब भी आँखें खोल !
जीवन-उदधि हिलोरे लेता, उठती लहरें लोल।

छवि की किरनों से खिल जा तू,
अमृत-झाड़ी सुख से झिल जा तू।
इस अनंत स्वर से मिल जा तू, वाणी में मधु घोल।
जिससे जाना जाता सब यह,
उसे जानने का प्रयत्न! अह!
भूल और अपने को मत रख जकड़ा, बंधन खोल।

× × ×

जीवन वन में उजियाली है।
यह किरनों की कोमल धारा
बहती ले अनुराग तुम्हारा;
फिर भी प्यासा हृदय हमारा।
व्यथा घूमती मतवाली है।

'बहती अनुराग तुम्हारा' परोक्ष की ओर कैसी सुंदर भावना है।

प्रकृति वर्णन प्रसादजी का बड़ा अनूठा है। पुराने हिंदी-कवियों में एक प्रकार से इसका अभाव सा है। सूर और तुलसी भी प्रकृति के कवि नहीं हैं। सेनापति कदाचित् प्रकृति के अच्छे कवि हैं पर वे भी प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता से प्रभावित नहीं होते। वर्तमान युग के कवियों में प्रसादजी का स्थान काफ़ी ऊँचा है। कहानियों में प्रेमचंदजी प्रकृति-वर्णन अच्छा करते हैं। उसमें और प्रसादजी के वर्णन में बड़ा साम्य है। सुबोध भाषा लिखने के कारण प्रेमचंदजी का वर्णन अधिक हृदयग्राही होता है; परंतु प्रसादजी का वर्णन अनोखा होता है। न उसमें इने-गिने वृक्षों के नाम रहते हैं, और न उनकी निजी अकेली सत्ता की अभिव्यक्ति की जाती है, वरन् बाद के संस्कृत-कवियों की भाँति—कालिदास, भवभूति, माघ और बाण—की भाँति प्रसादजी का प्रकृति-वर्णन आकर्षक होता है। मनुष्य की क्रिया-कलाप से लिपटा हुआ प्रकृति

का स्वरूप प्रसादजी सामने रखते हैं और वह भी मधुर स्वरूप में। वाल्मीकिजी की भाँति अथवा राजा रघुराजसिंह अथवा जायसी की भाँति नहीं। उसमें भावों का उत्कर्ष होता है, हृदय पर प्रभाव पड़ता है। अरुणाचल का वर्णन छोड़कर इस ग्रंथ में प्रसादजी का प्रकृति-वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं है। अतएव हम यहाँ इस प्रसंग को छोड़ते हैं। नाटक में प्रकृति-वर्णन के स्थान में प्रकृति-प्रदर्शन होता है, अतएव एक नाटककार को इस संबंध में सीमित अधिकारों से काम लेना पड़ता है।

इतनी आलोचना के पश्चात् हम उन कुछ बातों का निदर्शन करा देना चाहते हैं, जो 'एक घूँट' में खटकने वाली हैं।

पृष्ठ ११ में जिस शृंगार भाव के विप्रलंभ में ओत-प्रोत होकर 'वनलता' अपने स्वामी को स्मरण कर रही है, उससे और उसके तुरंत कहे हुए इन वाक्यों से कुछ मेल नहीं मिलता—

"अच्छा मैं भी खूब छकाऊँगी, तुम लोग बड़े दुलार पर चढ़ गई हो न।"

'वनलता' का अकेले में पति से कहना—"व्याख्यान! तुम कब से देने लगे? तुम तो कवि हो कवि, भला तुम व्यख्यान देना क्या जानो, और वह विषय कौन-सा होगा, जिस पर तुम व्याख्यान दोगे?"

पति के लिये इतने तिरस्कार-युक्त शब्द कहना, जबकि उसका पति-प्रेम इतना प्रगाढ़ है, एक आदर्श महिला का काम नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्यत्र भी अपने पति की वह खिल्लियाँ उड़ाती है।

कहीं-कहीं पर प्रसादजी दुरूह हो जाते हैं और कठिनता से समझ में आते। नीचे दी हुई कविता का क्रम अस्पष्ट और दुरूह है, केवल भाव-ही भाव समझ में आता है—

जलधर की माला,
घुमड़ रही जीवन घाटी पर जलधर की माला।
आशा-लतिका कँपती थर-थर,
गिरे कामना-कुंज हहरकर,
अंचल में है उपल रही भर यह करुणा बाला।
यौवन ले आलोक किरन की,
डूब रही अभिलाषा मन की,
क्रंदन चुंबित निठुर निधन की बनती वनमाला।
अंधकार गिरि-शिखर चूमती,
असफलता की लहर घूमती,
क्षणिक सुखों पर सतत झूमती शोकमयी ज्वाला।

परंतु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। 'एक घूँट' एक उत्तम कृति है। प्रत्येक साहित्य-सेवी को इसे अच्छे प्रकार अनुशीलन करना चाहिए।

संतों ने हमारे लिए क्या किया ?

मानव-जीवन आसक्तियों का समाहार है। अनुरक्ति और विरक्ति के मूल में यही आसक्ति काम करती है—प्राणी जन्म लेते ही विश्व के नानारूपों से सम्पर्कलाभ करने लगता है। अशेष सृष्टि के किसी अंश में उसे अनुकूलता और किसी में प्रतिकूलता मिलती है। अनुकूलता में सुख और प्रतिकूलता में दुःख होता है—सुख का परिणाम अनुरक्ति और दुःख का विरक्ति है—परंतु अनुकूलता और प्रतिकूलता सुख और दुःख सापेक्षिक प्रत्यय हैं। किसी एक ही वस्तु में किसी को सुख और किसी को दुःख मिलता है; अथवा किसी एक ही व्यक्ति को स्थान और समय के अंतर से उसी वस्तु में सुख-दुःख का विपर्यय हो सकता है। तात्पर्य यह है कि अनुरक्ति विभेद है—समस्वरूप आसक्ति है।

आसक्ति का विस्तार मानव जीवन का विस्तार समझा गया है। आसक्तियों के स्वरूप और आदर्श मनुष्य-जीवन के आदि काल से परिवर्तित होते आये हैं। पहले और अब भी जीवन की व्यस्तता में परिमाण-विभेद संख्या के परिगणन में रहा है—और है, संकुलता में नहीं। महात्मा गांधी और अफ्रीका का हबशी दोनों एक प्रकार से, समान रूप से व्यस्त रहते हैं। यद्यपि दोनों की आसक्तियों में आकाश-पाताल का अंतर है।

मानव-जीवन आसक्तियों का समाहार तो है ही मानवता की चरमता इन्हीं आसक्तियों के प्रति आसक्ति का परित्याग है। यह एक विरोध है पर इसमें विश्व के साम्य का महान् रूप छिपा है—उन्नतिशील व्यक्ति, समाज-रूढ़ि, धर्म रूढ़ि कला-रूढ़ि, राष्ट्र-रूढ़ि इत्यादि-इत्यादि न जाने कितनी रूढ़ियों से निरंतर युद्ध करता

रहता है। पुरानी आसक्तियाँ निर्मूल होती चलती हैं। और उनके स्थान में नई आसक्तियों का स्वीकार स्वतः होता चलता है। यही आसक्तियाँ आगे चलकर रूढ़ि बनती चलती हैं और फिर उनका ध्वंस अथवा पुन: निर्माण होता रहता है। इस ध्वंस और निर्माण के रहस्य को समझना विश्व की गत्यात्मकता को पहचानना है और उसमें योग देना विधि-विधान का अनुसरण करना है। जगत की गतिविधि में वही व्यक्ति उपयोगी सिद्ध होता है जो प्रिय से प्रिय ममतामयी असक्ति में भी अनुरक्ति न रखे और सुनिश्चित, सुस्वीकृत, सुदृढ़ सिद्धांतों के भी पुनः निरीक्षण, पुन: मूल्यनिरूपण तथा पुन: स्थिरीकरण के लिये निस्संकोच प्रस्तुत रहे।

वास्तव मे सत्य के निरूपण में इयत्ता नहीं होती और न सत्य की अभिव्यक्ति में चिरंतन टिकाव ही होता है—इस गतिमान जगत में गति ही गति है। गति में स्थायित्व की स्थापना करना—चाहे वह सत्य की यथार्थता की हो अथवा स्वयं ईश्वर की हो—जान-बूझकर भ्रम में पड़ना है। विश्व की बड़ी से बड़ी विभूति में अखंड शक्ति के अंशों और कलाओं का निर्धारण करना हमेशा एकदेशीय और एककालीन ही हो सकता है। सार्वभौमिक सर्वकालीन नहीं। विश्व अपने सार वैभव को लेकर क्षण-क्षण बदल रहा है। उसका आकार-प्रकार, उसकी रूप-रेखा, उसके विधान, उसका नियमन, उसका सर्वस्व संस्तरण करता रहता है, उसी प्रकार जैसे बूँद समुद्र में अथवा समुद्र बूँदों में। कौन किसका क्या करता है यह कौन जानता है। गहरी उड़ान भरते हुए इस 'अखिल चमत्कार' के किसी परमाणु के किसी ओर का किसी अधिकारी के नेत्रों में कौंधा हुआ कोई आलोक-खंड अथवा उसके कानों में पड़ा हुआ गत्यात्मकता की घरघराहट का कोई नाद-कण विश्व में न जाने कितने सत्यों की सृष्टि करता है। इन सत्यों में सत्यता की उतनी ही अवधि है जितने काल तक वे तद्रूप आसक्तियों पर

अपना अधिकार रख सकते हैं उनका पुनः निरीक्षण और पुनः मूल्य-निर्धारण हुआ करता है। नई आसक्तियाँ आती-जाती रहती हैं। फिर नया आलोक, फिर नया शब्द, फिर नया आधेय, फिर नया निरूपण, फिर नया सत्य और नया ईश्वर। यह निरंतर का धर्म है। यदि 'सत्य' सत्य ही रहे और उसमें परिवर्तन और परिवर्धन न हो, यदि ईश्वर में गति अगति से आगे न रहे, तो उन्नतिशील मन का तर्क असंतुष्ट ही बना रहेगा। प्रगतिशील जगत से संबंध रखनेवाले प्रत्येक प्रत्यय का प्रगतिशील होना ही उसका धर्म और उसकी शोभा है चाहे वह प्रत्यय सत्य हो, चाहे सुंदर हो, चाहे शिव हो और चाहे स्वयं ईश्वर ही क्यों न हो; बस इसी सूत्र को समक्ष रखकर हमें विश्व की समीक्षा करनी है। हम स्थिर कर चुके हैं कि आदर्श व्यक्ति किसी भी आसक्ति (Prejudice) में अनुरक्ति नहीं रखता। भारतवर्ष के चिंतकों और दर्शनकारों ने अपनी इस अनासक्ति बुद्धि और निर्मल विवेक का परिचय विश्व को काफ़ी दिया है। ईश्वर तक की उन्होंने अनासक्ति भाव से परीक्षा की है। अतएव इस लेख में संतों के संबंध में जो कुछ भी लिखा जायगा उसे रूढ़ि और परंपरा के निर्माण किये हुए वातावरण को ध्वंस करके समझने का प्रयास करना चाहिये।

प्रत्येक कला में या तो एक ही गीतरूप होता है, या अनेक। वस्तु की वास्तव में उतनी प्रधानता नहीं रहती। ये रूप ऐतिहासिक तथ्य भी हो सकते हैं और सम्पूर्ण ऊहात्मक भी; पर उनके मानसीकरण में कलाकार का निश्छल होना परमावश्यक है। उस की उद्भावना और उसका उद्गार, गहरी भाव विभोरता के भीतरी धक्के से बाहर अभिव्यक्त होता है। इसलिये उनके प्रभाव में समूचापन के साथ साथ नवलता और सच्चाई रहती है, जिसके कारण सब का हृदय प्रस्तुत प्रत्युत्तर से झनझना जाता है और कलाकार के अनुभव की सच्चाई का समभागी होता है। मानसी

करण की निश्छलता तथा राग और रूप की यथार्थता स्वत: सशक्त और सच्चा संगीत उत्पन्न कर देती है और उपयुक्त चित्र अथवा चित्रों की सृष्टि होने लगती है। कलाकार की सीता दर्शक की सौंदर्य प्रतीक बन जाती है।

फिर जब अनुकरण और आवर्त्तन होने लगता है, तो कुछ समय के पश्चात् विषय घिस-घिसकर पुराना पड़ जाता है। अनेक नकलची छुटभइये कविंद लोग आलोक-दर्शन का स्वाँग भरने लगते हैं। उसके साथ ओत-प्रोत तो होते नहीं, मुलम्मे वाले चित्र खड़े करने लगते हैं। कुछ अंध-प्रशंसक इन चित्रों को कला की ऊँची कृति कह कर अभिनंदन करते हैं। इस हठधर्मी से साहित्य में बड़ी अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो जाती है। रूढ़ि अनुकरण और परंपरा प्रशंसा दोनों ही सच्ची कला की हत्या कर देती हैं। जो एक समय सच्ची कला की कृति थी, आगे चल कर कृत्रिमता की कृति बन जाती है। संस्कृत के पतन-युग में ऐसी कृतियों की भरमार मिलेगी। वर्त्तमान हिंदी-कविता में भी सिद्धहस्त कवियों की कृतियों का अंध-अनुकरण काव्य का नाश कर रहा है। किसी का नाम लेकर उसे अप्रसन्न करने का साहस कौन करे? उदाहरण रघुराजसिंह का रामस्वयंवर दिया जा सकता है। उर्दू के पतन काल में लखनऊ और देहली दोनों कोटि की कविताओं में बुलबुल, नरगिस, लैला मजनू के विषयों पर लिखे गये अशार इसी का नमूना है।

सच्ची कला के लिए रूप और राग वस्तु से कहीं अधिक उपयोगी हैं। परंतु मानसीकरण की निश्छलता और उद्भावना तथा अनुभव की यथार्थता कला के प्राण हैं। इनकी उपस्थिति अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। तभी पाठक में कलाकार के साथ समभावना का उदय होता है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि कलाकार अपने आलोक की वास्तविकता में स्वयं संदेह करता

है, तो उसके निर्दशन में वह कैसे भी बहुमूल्य शब्दों का व्यय करे, उसका सारा संगीत निर्जीव, पीतल और तांबे की टनटनाहट से अधिक प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता। साथ ही यदि दर्शक जान जाता है कि कलाकार किसी शव का शृंगार कर के उसकी पूजा कराना चाहता है, तो उसे भी कोई सौंदर्यानुभूति नहीं होती और न कोई आनंद आता है। कभी-कभी यह भी होता है कि कवि है तो ईमानदार परंतु उसकी दृष्टि कुंठित है। अतएव भ्रमवश वह मृत अश्व को जीवित समझ कर उस पर कशाघात करता है। किसी निष्प्राण विग्रह को सजीव समझ कर उसकी आराधना करता है; परन्तु कोइ भी तत्त्वदर्शी समीक्षक उसके इस प्रयास को सफल न कहेगा। वर्त्तमान काल की छायावादी कही जाने वाली कविताओं में इसके उदाहरणों की भरमार है।

अस्तु समझ में यह आता है कि कविता में वस्तु का ध्यान कवि के उद्गारों की निश्छलता और यथार्थता आँकने के लिए कभी-कभी आवश्यक होता है। इसी हेतु कविता में वस्तु का महत्त्व भी बढ़ जाता है। रूढ़िगत विषय, मरे हुए विचार, मिथ्या, भ्रांत तथा परित्यक्त धारणाएँ, उसी प्राचीन घिसे हुए पुराने ढंग से निष्कपटता के साथ अब कवि की वस्तु नहीं बन सकते। मौलिक उद्भावना और प्रेरणा के लिये कवि के लिए यह परमावश्यक है कि जीवन के विषय में उसकी विचार दृष्टि भी मौलिक हो। वह जीवन को अपने ढंग से देखे। यदि आज का कवि जीवन के प्रति वही पुराने ढंग के रहस्यवाद, छायावाद, अथवा आदर्शवाद की परंपरा प्राप्त प्राचीन भावनाओं का पोषक है, तो उसकी उद्भावना अवश्यमेव लीक पीटने वाली और कृत्रिम होगी।

आज के दिन वैदिक देवताओं में कौन जीवन फूँक सकता है? प्रतीक उपासना में किसको विश्वास हो सकता है? गणेश का प्राचीन विघ्नकारी स्वरूप किस कवि में भावावेश उत्पन्न कर

सकता है ? निसर्ग के ध्वंसकारी रूपों का भयावह व्यापार केवल प्राचीन मानवता की श्रद्धा का अवलंबन हो सकता था। आज का युग तो रहस्यवादी के मानसीकृत परोक्षसत्ता तक की यथार्थता में विश्वास नहीं करता। युग कहता है कि रहस्यवादी की परोक्षसत्ता उसकी निजी सत्ता है। उसी की अपने लिये अपनी ही भक्ति है। एक विद्वान् का तो यहाँ तक कथन है कि रहस्यवाद के नाम से हम अपने ही अहं का मलिनतम, निम्नतम तथा जघन्यतम अवशेष का मानसीकरण करते हैं और उसे अपनी ममता के बल पर ऊँचे उठा कर अपने बनाये हुए देवता के बराबर बिठा देते हैं। यदि कहीं यह रहस्यवादी कवि भी हुआ, तो अपने इस छोटे से देवता को खूब तड़कीली भड़कीली साहित्यिक वेश-भूषा से खिलौने जैसे छोटे-छोटे अलंकारों से सजा देता है; परन्तु मनोविज्ञान के अनुसार इसमें तथा ऊपर संकेत की हुई कवि की शव-उपासना में कोई अंतर नहीं होता। दानवता, विवेकशून्यता, पक्षपात-वृत्ति, अज्ञानता, निर्धनता तथा ध्येयता की पूजा सामाजिक-आतंक और शोषण ये सब धार्मिक रहस्यवाद के अथवा संदिग्ध-आदर्शवाद के रूप हो सकते हैं। ऐसे रहस्यवाद को केवल ऋषि, मुनियों, चिंतकों और कवियों की कमजोरी न्यूनता, स्वप्नशीलता, शिथिलता, अमुखरता तथा कायरता का दर्पण समझना चाहिए। ऐसा ही रहस्यवाद अज्ञान और प्रतिक्रिया का पक्ष लेता है और मनुष्य को जीवन-संग्राम के ऐसे अवसरों पर अकर्मण्य दयनीय, हिचकवादी, कमजोर, श्रांत, निराश, दैव-दैव पुकारने वाला, आभाहीन बना देता है, जहाँ उसे चेतन, सजग, आत्म निरीक्षक, कठोर संघर्षणप्रिय होना उचित है। कवियों अथवा संतों का वह वर्ग, जो हमको यह सिखाता है कि भावी स्वर्ग के लालच से हम इस पृथ्वी पर नारकीय यातनाओं को चुपचाप सहन करते जायँ, वह परोक्ष रूप से अन्याय का समर्थन करता

है। वह शोषकों को रक्त चूसने में योग देता है और उन्हें आनन्द के साथ भोजन करने और सुखपूर्वक जीवन यापन करने में सहायता पहुँचता है। आज का युग समझदार व्यक्तियों से यह माँगता है कि वे प्रत्येक प्रकार के आवरण को विदीर्ण करके सुनिश्चित वास्तविकता सामने रक्खें। आज की दुनिया में संतों की जीवन-नकारप्रियता, ऋषियों का इतरलोकवाद, मुनियों की एकांत समाधि और सांख्यकारों की लोक-बाह्य मननशीलता को कोई स्थान नहीं है। इस समय का तो समस्त वातावरण ज्ञान-प्रधान, शक्ति प्राप्ति के लिये उतावाला, छलकते हुए जीवन का निदर्शक, वर्तमान सामाजिक जनसत्तात्मक-विधान का घोर समर्थक है। वह तो केवल इहलोक सिद्धियों की व्याकुलता से ओत-प्रोत है। इतरलोकवाद का लोकबाह्य जीवन सामाजिक भावुकता को कुण्ठित करके सुला देता है और सजीव के प्रति अनुराग को मृत के प्रति आकांक्षा में परिवर्तित कर देता है। न्याय, स्वतंत्रता, समानता, सत्यता सुन्दरता विकास और विज्ञान का स्पष्टीकरण अब केवल उन व्यक्तियों द्वारा किया जा सकता है जो प्रति-क्रियावादिक सहयोग से नितांत पृथक् हैं। यह कविता के लिए उतना ही सत्य है जितना किसी भी दूसरी कला के लिए क्योंकि सभी कलाएँ तत्वतः एक ही हैं।

इस विवाद से कोई यह न समझे कि लेखक किसी शुष्क निस्तेज, नितांत ज्ञानात्मक-यथार्थता का पक्ष ग्रहण कर रहा है। मानवता के लिए अनुपयुक्त, केवल नाममात्र के लिए भावना के कारागार में जकड़ा ज्ञान का प्रत्यय किसी काम की वस्तु नहीं होती। भविष्य के लिए भूत का निषेध उतना आवश्यक नहीं जितना कि एक कष्ट और दुःख में रगड़ खाते हुए नवीन जीवन का स्वीकार आवश्यक है। यथार्थता के समाज-गत संदेश को रागात्मिकता और नीतिमत्ता के वैभव से अधिक सुहावना बना

देना चाहिए। उसे बुद्धि के ऊँचे धरातल तक पहुँचा कर रूप और रस दोनों की सुन्दरता उत्पन्न करनी चाहिये।

इस लेख के लेखक का यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि भारतवर्ष पर संतों ने उपकारों की अपेक्षा अपकार अधिक किये हैं। संतों की जो परिभाषा गोस्वामी तुलसीदासजी ने दी है अथवा जो अन्यत्र मिलती है वह तो विश्व के उदात्त गुणों की तालिका है; परन्तु व्यवहार जगत में संतों का क्या प्रभाव पड़ा इससे इनकी उपयोगिता आँकनी है। शताब्दियों के प्रयोग के बाद जो आचरण आचरण-शास्त्र तक पहुँच सके हैं, जो धर्म-तत्त्व धर्म-ग्रंथों में संगृहीत हो सके हैं, जो विकसित चिंतना दर्शन-पुस्तकों में लिखी जा सकी है, अथवा मानवता का जो सभ्य स्वरूप अपना कला, साहित्य तथा समाज का आदर्श स्थिर कर सका है, जब-जब ये संत हुए इन्होंने एक ही उच्छ्वास में सबको धराशायी करने का प्रयास किया। चिंतनशील जन-समुदाय की अपेक्षा मूर्खों की संख्या वैसे ही अधिक होती है। विश्व की यह महान विभूति मूर्ख मंडली-मूढ़-ज्ञान से स्वाभाविक रूप से अधिक चिपकती है, अतएव उसे इस ध्वंस-कार्य में बड़ा सहारा मिला। इतिहास इसका साक्षी है कि बड़े से बड़े संत-पथ में मूर्खों की ही भरती अधिक मिली।

पुरानेपन से युद्ध करना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक है, रूढ़ियों को तोड़ना सुधार ही नहीं धर्म है। दलितों को उठाना कर्त्तव्य ही नहीं पुण्य है; परन्तु संतों की कार्य-विधि सदोष थी। उन्होंने पतितों को उकसाया, उन्होंने धर्म के सड़े अंगों की दुर्गंध नासिका तक पहुँचाई, उन्होंने समाजवाद, साम्यवाद और जन-सत्तात्मकवाद का संदेश जनता तक पहुँचाया तथा जीवन को पवित्र बनाने का प्रयास भी किया; परन्तु देश में, साथ ही साथ, एक ऐसी लक्ष्यहीनता उत्पन्न कर दी कि उनके जागरण-संदेश

का आदर्श ही नष्ट हो गया। उनकी क्रांति में सुधारवाद का नियंत्रण था और जो कुछ भी उसमें वेग था लक्ष्यहीन था। अधिकांश संतों में लोक-संग्रह का कोई भाव न था। समष्टि के स्थान पर उन्होंने व्यष्टि पर अधिक जोर दिया। स्वामी वर्ग का समाज-शोषण किस प्रकार समाज को खोखला बनाता है उसे समझकर भी दलितों में जो भेदभाव मिटाने का जोश पैदा हुआ वह अध्यात्म की ओर मोड़ देने के कारण पंगु हो गया। बड़े वेग और घरघराहट के साथ बहनेवाली कबीर की क्रांति-सरिता भी अध्यात्म के मरुस्थल में पहुँचकर विलीन हो गई। इन संतों ने ठोस जगत के अभावों को काल्पनिक जगत के स्वर्ण-विहान से चकाचौंध करके भुलाने का प्रयास किया। ऐहिक जगत की घुस-पैठ, जीवन-संग्रह का संघर्ष, मानवता के स्वत्वों की माँग—ये सब सांसारिकता कहकर कोसी गई। परलोकवाद, इतरलोकवाद, जन्मांतरवाद, पुण्य-पापवाद, मायावाद, संसार प्रपंचवाद रहस्य-वाद और न जाने कितने लोकविरोधी वादों का प्रचार हुआ और इस जगत से उदासीन होना सिखाया गया। पाप और पुण्य के मनमाने आदर्श स्थिर करके सब प्राणियों को अध्यात्म की संकरी गली में खदेड़ने का काम तो संतों ने किया ही, उन्हें संसार की ओर मुड़कर देखने की भी आज्ञा न दी। इतरलोक के तर्क के सामने इहलोकवाद नास्तिकता का विषय हो गया। अतींद्रिय जगत का भावविभोर वर्णन, विचारातीत परिस्थियों के ज्वलंत चित्र, रहस्यवाद के अटपटे वचन जनता को केवल थोड़े काल के लिये पार्थिव अभावों से विरत कर सकते थे; परंतु नमक, तेल, लकड़ी की माँग, भूखे बिलबिलाते हुए रुग्ण बच्चे की सूखी आकृति न घंटों के सत्संग में और न सुरति-शब्द-योग में भूल सकते थे। 'त्रिकुटी', 'भँवरगुफा', 'महासुख', सभी का ध्यान और योग भूखा मन अधिक काल तक नहीं कर सकता। संतों ने लो

को लोक में रहकर सुधारने का अवकाश ही नहीं दिया। अभावों से त्रस्त व्यक्ति में ऐहिक स्वत्वों के प्रति दैवी प्रेरणा का भाव उत्पन्न करके उसे परावलंबी बना दिया गया। स्वावलंबन में जो अपने भाग्य को स्वयं निर्माण करने का बल होता है वह शिथिल कर दिया गया और सब रोगों की एक मात्र औषधि अध्यात्म की घूँटी सब भक्तों को पिलाई गई। अपने पर भरोसा कैसे रहता जब—

हानि लाभ जीवन मरन,
जस अपजस विधि हाथ।

पार्थिव अभावों का सम्यक परिचय भी नहीं होने पाया, भक्त चट उस महान् अभाव, भगवद्-भक्ति की ओर खिंच गये। संसार जैसा का तैसा छोड़ दिया गया।

यह कोई न कहेगा कि विश्व में पार्थिव अभावों की इति है। उनकी तालिका बढ़ती-घटती रहती है। वे सापेक्ष हैं। यदि हम अपने अभावों का कोष बढ़ाते जायेंगे तो जीवन बड़ा असंतोषमय हो जायगा। कहीं तो विराम करना ही होगा। परंतु यह भी न भूलना चाहिये कि जहाँ एक वर्ग की साधारण से साधारण आवश्यकतायें पूरी नहीं होतीं और शोषण द्वारा दूसरे वर्ग उससे अनुचित लाभ उठाते हैं वहाँ शासन में महान् दोष है। ऐसे शासन को और ऐसी व्यवस्था को उखाड़ फेंकना प्रत्येक लोक-संग्रही संत और महात्मा का सबसे पवित्र काम है। असंतुष्ट वृत्ति के मत्थे मढ़कर ऐसे समाजजनित अभावों की ओर उपेक्षा करना अन्याय का परोक्ष रूप से समर्थन करना है। अनिवार्य स्वत्वों के लिये झगड़ना अशांति का बर्बर निदर्शन नहीं है। वैसे तो सबसे बड़ी और घोर अशांति संत लोग भक्तों के हृदय में भगवद् साक्षात्कार की बलवती उत्कंठा के रूप में स्वयं उत्पन्न कर देते हैं। अशांति अपने नग्न रूप में

निन्द्य नहीं केवल प्रयोग पर उसकी उपादेयता निर्भर है। संतों ने उसकी समूची उपयोगिता की ओर ध्यान न देकर एक ग़लत मार्ग भारतवासियों के समक्ष रखा। इससे अधिक निंदनीय बात और क्या हो सकती है कि दलित वर्ग में अभावों से परितुष्ट रहने की वृत्ति जागरित करके शोषण करनेवालों का अन्याय आध्यात्मिकता की मुहर लगाकर सही कर दिया गया। वर्गों के समीकरण की आवश्यकता पर बहुत से साखी और शब्द कहे गये; परंतु व्यवहार-जगत में वह बिल्कुल असफल रहे। आध्यात्मिकता, पवित्रता, ईश्वर की आवश्यकता अधिक साकार करके हमारे हाथ-पैर जकड़ दिये गये। भारतीयों में अजीब हिचक उत्पन्न हो गई। हम जीवन-संग्राम के लिये नपुंसक हो गये।

इस लेख को पढ़कर किसी को यह न समझना चाहिये कि इसके लेखक को संतों से कोई विरोध है। जीवन को पवित्र करने के लिये, स्वरूपदर्शन के लिये, चिंतना के उकसाने के लिये, साहित्य और कला को नये रूप में लाने के लिये और एक महान परार्थता उत्पन्न करने के लिये संतों ने जो प्रयास किया वह स्तुत्य है। संत लोग हमारे श्रद्धा के भाजन हैं। परंतु संसार से हमेशा भागनेवाली वृत्ति, उसके प्रस्वेदपूर्ण संघर्षों के प्रति कायरतापूर्ण उपेक्षा, तथा जीवन के एकांगी और अकेलेपन पर अधिक ज़ोर इत्यादि कुछ ऐसी बातें हैं, जिन्होंने संतों को भारतवर्ष के लिये विफल सिद्ध किया। संत-भक्त मुझे इस स्पष्टोक्ति के लिये क्षमा करेंगे। मेरे ये भाव सब संतों के लिये नहीं हैं। मुझे वैसे भी संतों के जीवन से बहुत कुछ मिला है। परंतु किसी भी परिस्थिति में मनुष्य को विवेक न खोना चाहिये। आसक्ति प्रत्येक कोण की ओर से सम होती है, अतएव अनासक्ति भी समभाव से ही होनी चाहिये।

एकांकी नाटक

भारतीय साहित्य के आचार्यों ने काव्य को दृश्य और श्रव्य दो भागों में विभक्त कर रखा है। नटों द्वारा अभिनय, पात्रों की मुद्रा उनकी भावभंगी, उनके कंठ सरसता और उच्चारण पटुता की ओर विशेष ध्यान देकर, दृष्टि के अधिक प्रयोग के कारण नाटकों को दृश्य काव्य में स्थान दे रखा है। उच्चारण कुशलता और संगीत सौष्ठव श्रवणेंद्रिय के प्रयोग की उपेक्षा करते हैं परंतु संवादकों की अंगपरिचालना और गायकों की भावभरी मुद्रा की ओर ध्यान अधिक रहता है और नेत्र ही इस सौंदर्य का स्वाद लेते हैं इसीलिये नाटकों को दृश्य काव्य कहा है। अभिनय के पारखी भी दर्शक ही कहे जाते हैं।

नाटकों के अतिरिक्त अन्य काव्य को श्रव्य काव्य क्यों संज्ञा दी गई इसको भी समझना चाहिये। कदाचित् अन्य सब प्रकार के काव्य को लोग परस्पर सुना सुनाया करते थे। लिखना अधिक कष्टदायक था। एक प्रति को कवि अपने मित्रों के बीच में बैठकर सुनाया करता था। एक पढ़ता होगा बहुत से लोग सुनते होंगे। नाटकों को पढ़कर सुनने सुनाने की परिपाटी न होगी। सुनाने के बाद उसी नाटक को अभिनय में देखने की रुचि न रह जाती होगी। अतएव नाटककार अपनी कृति अभिनय से पहले सुना देना पसंद न करता होगा। पढ़ने में कंठ सौंदर्य और संगीत-प्रभविष्णुता का खासा प्रभाव पड़ता होगा। अतएव काव्य का प्रभाव बढ़ जाता होगा। पुस्तकें आज की भाँति उपलब्ध न थीं कि अपने-अपने विश्रामस्थल पर बैठे-बैठे धीरे धीरे बड़े मनोयोग के साथ पढ़ी जायँ। शास्त्रों और काव्यों का बहुत

बड़ा भाग मौखिक रहता था और उसे गुरु परंपरा द्वारा सुनाकर ही संरक्षित रखा जाता था। यही कारण है कि अभिनय की सीमा से बहिष्कृत समस्त काव्य श्रव्य काव्य की शरण आगया।

आचार्यों का अनादर न करते हुए भी इस समय यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि काव्य का यह भेद नितांत स्थूल है। पश्चिम के समीक्षक ऐसा कोई वर्गीकरण नहीं करते।

किसी इंद्रिय विशेष का अकेला सहारा कभी भी सौंदर्य को मन तक नहीं पहुँचाता। मन पर प्रत्यक्षीभूत सौंदर्य समस्त ज्ञानेंद्रियों का संकुलित संदेश होता है। किसी भी पदार्थ का ज्ञानेंद्रियों का संपर्क हलका अथवा गहरा प्रकंपन प्रत्येक इंद्रिय में उत्पन्न करता है। तद्‌जनित विकारानुभूति ही ज्ञान है। ये ज्ञान सामान्य और विशेष दो रूपों में आकुलित रहते हैं। 'मनोहर' कहने से व्यक्ति विशेष का आकार, उसकी बोली, उसके चेहरे के चेचक के दाग़, उसके वस्त्रों की सुगंध इत्यादि सभी बातों का ध्यान आगे पीछे आ सकता है। यह ज्ञान हमारी भिन्न-भिन्न इंद्रियों ने पहुँचा कर उस व्यक्ति का स्वरूप निरूपण मनःपटल पर किया है। सजग, असजग, अथवा अर्धसजग किसी भी अवस्था में यह मानसिक क्रिया संपन्न हुई है। यह ज्ञान न दृश्य और न श्रव्य पथ का अकेला निष्कर्ष है।

यह ठीक है कि कुछ वस्तुओं के अभिधान में किसी विशेष-इंद्रिय की अधिक सजग प्रेरणा रहती है अतएव उसके नाम लेते ही उस इंद्रिय-ज्ञान का भाव जल्दी आ जाता है। मखमल अथवा नवनीत में स्पर्शेंद्रिय का ज्ञान आ जाता है। गुलाब में घ्राणेंद्रिय, कोयल में श्रवणेंद्रिय, मिरच में स्वादु इंद्रिय, हाथी में नेत्रेंद्रिय का भाव सजग हो उठता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि मिरच का आकार नेत्र नहीं जानते अथवा गुलाब और नवनीत का स्वाद याद नहीं आता अथवा मखमल की धीमी

चरमराहट कान तक नहीं पहुँचती। सामन्य ज्ञान में अपनी-अपनी ज्ञानेंद्रियों के स्पष्ट भावों की संकुलता पृथक् पृथक् अनुभव होगी। मनुष्य कहने में हर एक व्यक्ति का मनुष्य सामान्य गुणों में भरा पूरा, पर फिर भी ध्याता की व्यक्तिगत विशेषताओं से आपूरित सामने आता है। किसी को गौरवर्ण किसी को साँवला किसी को भारी कद वाला किसी को कोयली बोली वाला इत्यादि-इत्यादि आदर्श रूप सामने आयेगा। नाटक देखते समय सब इंद्रियाँ साथ-साथ प्रभावित होती रहती हैं। नेत्र ही सब कुछ नहीं है। वास्तव में संवादों में अथवा रसीली कविताओं में जो कुछ भी काव्य पकड़ा गया है वही तो काव्य है। सुंदर मूरत अथवा पतला गला, संगीत की बारीकी, वेशभूषा, कथोपकथन का लहजा और बोलने का झटका दृश्य की सजावट—इन सब का काव्य से कोई संबंध नहीं है। ये सब मिलकर काव्य के असली रूप पहचानने में भ्रम पैदा कर देते हैं। अतएव काव्य का दृश्य और श्रव्य का विभाजन अस्वाभाविक है।

भारतवर्ष के नाटकों की प्राचीनता निर्भ्रांतरूप से सिद्ध है। ऋग्वेद में इसका रूप है। यज्ञ के समय नाटक होते थे; देवताओं के समक्ष नाटक खेले जाते थे। अग्निपुराण में इसकी चरचा है। यातायात की त्वरा ने दुनिया को काफ़ी सिकोड़ दिया है। आज दुनिया के दूरस्थ दो कोने जितनी शीघ्रता से परस्पर प्रभावित हो उठते हैं उतना पहले कभी सम्भव न था। कला के आदर्शों का आदान-प्रदान भी बड़ी शीघ्रता से घटित होता है। योरप के नाटकीय आदर्शों का प्रभाव भी हम पर बड़ी शीघ्रता से पड़ता है। आज के एकांकी नाटक भी इसी परस्पर आदान-प्रदान की योरोपीय देन हैं। यह मैं नहीं कहता कि हमारे यहाँ उनकी कला का अभाव था। एकांकी नाटकों का हमारे यहाँ चलन था और उनके नाम और उनकी परिभाषा लक्षण ग्रंथों में विद्यमान है।

'भाण' एकांकी नाटक है। इसका मुख्य उद्देश्य परिहास पूर्ण धूर्तता प्रदर्शन करना है। 'व्यायोग' में भी एक ही अंक होता है। इसमें पुरुष पात्रों की बहुलता होती है। 'अंक' भी एकांकी नाटक है। इसका करुणारस निश्चित रस है। इसके नायक और नायिका साधारण व्यक्ति होते हैं। 'वीथी' में भी एक ही अंक होता है। 'प्रहसन' में भी कभी-कभी एक ही अंक रखने की परिपाटी देखी गयी है। उपहास पूर्ण ढंग से व्यंग पूर्ण भाषा में यह लिखा जाता है। 'गोष्ठी' भी एकांकी नाटक है। इसमें स्त्री पुरुष पात्र साधारण व्यक्ति होते थे। 'नाट्यरसिक' भी एकांकी नाटक है। 'उल्लाप्य,' 'काव्य,' 'प्रेषण,' 'रासक,' 'श्रीगदित' तथा 'विलासिका' ये सब अपनी अपनी विशेषतायें रखते हैं। पर सब एकांकी नाटक है। परंतु आज के एकांकी नाटकों का इनसे कोई विशेष साम्य स्थिर नहीं किया जा सकता।

पश्चिम के साहित्य में एकांकी नाटक का इतिहास और उनकी प्रगति अपना एक विशेष महत्व रखती है। साहित्य के अन्य आकारों की भाँति एकांकी नाटक का भी एक रूप रहा है। उसके स्वतंत्र अस्तित्व की सबसे पहले घोषणा इटली में कमेडिया-डेल-आर्टी (Comedia-Dell-Arti) में दिखाई देती है। पंद्रहवीं सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के एकांकी नाटकों में कथानक की संक्षिप्तता और विषय का एकाकीपन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता था। मिस्ट्री, मिरेकिल तथा मोरेलटी प्लेज़ (Mystery, miracle, and Morality Plays) भी एकांकी होते थे। पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के बीच में गर्भांक (Interlude) के रूप में भी एकांकी नाटक दिखाई देते हैं। यही नहीं बिषादांत अभिनयों के गंभीर और बोझीले प्रभाव को हलका करने के लिए प्रधान नाटक के अंत में 'आफ़टर पीसेज़' (After Pieces) नामक एकांकी

नाटक हास्यपूर्ण वस्तु को लेकर खेले जाते थे। यह सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में बराबर पाया जाता था। इसी प्रकार बड़े नाटक के अभिनय के पूर्व दर्शकों में मनोरंजन के लिये भी एकांकी नाटकों का अभिनय होता है। इन एकांकी नाटकों को कर्टन रेजर्स (Curtain Raisers) कहते थे। विक्टोरिया युग में इनका बहुत चलन था।

धीरे-धीरे पश्चिम का नाट्य-साहित्य यथार्थता की ओर बढ़ने लगा। पुरानी अभिनय परिपाटी, पुराने प्रसिद्ध नट, पुराना काव्य-मय कथोपकथन, पुराना रंग मंच सबकी ओर से प्रतिक्रिया हुई। इस प्रतिक्रिया के प्रेरक इबसेन (Ibsen) और पिनेरो (Pinero) प्रसिद्ध हैं। इबसेन के सोसाइटी (Society) नामक नाटक में अभिनय-संकेतों (Stage directions) की प्रधानता है। दृश्य-प्रदर्शन को गौण स्थान दिया गया है। इन सब ने एक बात और यह की कि उन्होंने तुकबंदी का बहिष्कार करके ठेठ गद्य में अपने नाटकों को लिखा। केवल नेत्रों के मनोरंजन करने वाले दृश्य और तड़क-भड़क वाले प्रदर्शन इनके नाटकों में न मिलेंगे। उनमें स्वगत (Soliloquy) और विलग (Aside) दोनों परिपाटियों को अस्वाभाविक समझ कर छोड़ दिया गया है। दैनिक जीवन की सुंदर झाँकी उनमें मिलेगी। नैतिक और सामाजिक समस्याओं के प्रति युग की क्या प्रतिक्रिया है यह भी उनमें उपस्थित है।

यही नहीं स्वयं अभिनय मंचों में प्रतिक्रिया हुई। रेपेरेटरी थियेटर्स (Repertory theatres) की सृष्टि वास्तव में लंबे-लंबे पुराने खेलों के प्रति प्रतिक्रिया समझनी चाहिए। पुराने बड़े-बड़े साहित्यिक नाटकों के प्रति तथा प्रसिद्ध बड़े-बड़े नटों के प्रति एक विरोध की भावना जाग उठी थी और ध्यान टिकट की बिक्री की ओर से हटकर यथार्थता की ओर आगया। व्यवसायी कंपनियों और नटों से हट कर अभिनय शौकीन नागरिकों के हाथ में आ

गया। उनका काम केवल समाज के लिये विनोद उपस्थित करना था। ऐसे एकांकी नाटकों में विशप्स केंडिलस्टिक (Bishops Candle Stick) प्रसिद्ध है। उसकी रचना भी जनसाधारण के मनोरंजन के लिये हुई है। शैर्प (Shairp) ने अपनी भूमिका में छोटे बच्चों के अभिनय के लिये एकांकी नाटकों की चरचा की है।

एकांकी नाटक को भी कला और साहित्य की वर्तमान प्रगति का अंग समझना चाहिये। पुरानी परिपाटी और पुराने आदर्श के विध्वंस में ही इसके वर्तमान रूप का निर्माण हुआ है। डी० एच० लारेंस तथा सिटवेल (D. H. Lawrence and Sitwell) इत्यादि को घोर प्रतिक्रिया वादी कहा जा सकता है। इप्सटीन (Epstein) के सदृश कला की नई गति विधि के प्रदर्शक भी इसी प्रेरणा के अंतर्गत हैं। उपन्यासों से ऊब कर आख्यायिकाओं के लिखने की ओर लोग बढ़े, नाटकों से एकांकी नाटक की ओर झुके तथा बड़ी बड़ी जीवनियों से ऊब कर छोटी छोटी प्रभावापन्न जीवनियाँ लिखी जाने लगीं। यही नहीं विषय में भी आदर्श की उद्भावना की प्रतिक्रिया स्पष्ट दिखाई देती हैं। वलिबा (Verse Liberer) में नायक को ही विरूपित किया गया है। यह एक गद्य काव्य है।

आजकल अंग्रेजी में नीचे दिये हुए नाटककारों का एकांकी नाटक रचने में नाम है—

ए० ए० मिनी, ऑर्नेल्ड बेनेट, जान गाल्सवर्दी, लार्ड डन्सेनी, जे० जे० बेल, जान डिकूवाटर—

कुछ में एक दृश्य कुछ में एक स अधिक दृश्य रहते हैं। पटक्षेप अंत में ही आता है और मध्य यवनिका बीच में ही गिर जाती है।

कभी-कभी यह प्रश्न सामने आ जाता है कि दर्शकों की रुचि नाटकों के निर्माण में प्रबल होती है अथवा नाटकों का प्रभाव दर्शकों की रुचि परिवर्तन में योग देता है। वास्तव में इसका उत्तर

देना सरल नहीं। दर्शक का और नाटक का अन्योन्याश्रित संबंध है। यह ठीक है कि अंग्रेजी नाटककार बर्नाडशा अपने दर्शकों का स्वयं निर्माण करते हैं यद्यपि साधारणतया योरप और भारत-वर्ष में दोनों में ही अधिकांश नाटकों की वृद्धि रंग मंच की रुचि परितुष्टि के अनुकूल होती है। एकांकी नाटकों के अभिनय के विषय में भी यही बात है। यूनान के नाटक, शेक्सपीयर के नाटक, संस्कृत के नाटक, हरिश्चंद्र के नाटक अधिकांश में लंबे होते हैं अतएव उनके अभिनय में सारी रात्रि का झमेला रहता था। आज कल के व्यस्त जीवन के संघर्षमय वातावरण से फेनिल मुख दौड़ने से हमें अवकाश बहुत कम मिलता है। हम अपने उलझे जीवन में से यावत् किंचित विश्रांति उपलब्ध करने के लिए कुछ क्षण सुलझा कर मनोरंजन भी कर लेते हैं। बस इस युग के एकांकी नाटकों की सृष्टि का सबसे बड़ा कारण यही है। समूचे बड़े नाटकों के लिए दर्शकों अथवा पाठकों को अधिक समय की अपेक्षा होती है। पुराने युग के एकांकी नाटकों के निर्माण की प्रेरणा में और कारण थे जिनका संकेत अन्यत्र हो चुका है। आज के एकांकी नाटक तो उन बड़े नाटकों के प्रति प्रतिक्रिया मात्र है। बड़ी देर तक बैठ कर बड़े-बड़े नाटकों के रसों में डूबने और उतराने में जो एक गहरी भावुकता का बोझ पड़ जाता है, उससे हमारी नसें थक जाती हैं। अभिनय कला की एक बँधी परिपाटी से मन ऊब जाता है और हम यंत्र की एक सी चाल के प्रति क्रांति करते हैं। हमारा आज का जीवन मन से, विचार से, तथा कलात्मकता की दृष्टि से पूर्ण रूप से नागरिक हो रहा है और जहाँ वस्तुओं के साथ नित नए प्रयोग करते हैं वहाँ कला के भी नये-नये प्रयोग किया करते हैं। बड़े नाटकों के लंबे लंबे कथोपकथन, उनकी भद्दी अभिव्यंजना, दृश्यों की सजावट की अतिशयता, विषयांतरता तथा वर्णन बाहुल्य चरित्र-विकास और

काव्य-विकास के लिए एक लंबा प्रयोग, कथावस्तु को औत्सुक्य पूर्ण रूप देने के लिये एक उलझी कल्पना—ये सब बातें युगों से हमें परेशान किये हैं। एकांकी नाटक में हम इनकी छाँह भी देखना पसंद नहीं करते। एकांकी नाटक का निश्चित और सुचिंतित एक लक्ष्य होता है। उसमें केवल एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या प्रबल होती है, कार्य कारण की घटना शृंखला अथवा कोई गौण परिस्थिति अथवा समस्या के समावेश का उसमें बिलकुल स्थान नहीं होता। वेग संपन्न प्रवाह में किसी प्रकार के अंतर प्रवाह के लिये अवकाश नहीं होता। वह तो समूचा ही केंद्रीभूत आकर्षण है। उसके निर्माण में उत्कर्षता और परमता सर्वत्र बिखरती चलती है। शिथिल विवरण के लिये कहीं भी अवकाश नहीं रहता। कला, कथावस्तु, परिस्थिति और व्यक्ति के स्वरूप-निरूपण में मितव्ययिता और चतुरता का जो रूप एकांकी नाटकों में मिलता है वह साहित्य कला की अद्वितीय निधि है। आकार का केंद्री कृत प्रभाव तथा वैयक्तिक और स्थानिक विशेषताओं की केवलता एकांकी नाटकों को सुंदर बना देती है। कथोपकथन में मुहावरे बाजी वाक् चातुरी अथवा दरबारी त्वरा बुद्धि के स्थान में तार्किक मौलिकता, निष्पक्ष समीक्षा तथा विषय प्रतिपादन का होना बड़ा आवश्यक है। पात्रों में केवलता की गहरी छाप होनी चाहिए। इसके अभिव्यंजन में निश्चल भावुकता का बल होना चाहिये। वास्तविकता की गहरी पकड़ में कला की गति यदि बढ़े तो अभिनय अच्छा होगा।

एकांकी नाटक का विषय कुछ भी हो सकता है। रानी-राजा की कहानी से लेकर पंचतंत्र की कहानियाँ, जातक, हितोपदेश, फेरीटेल, सहस्ररजनी चरित्र इत्यादि सभी के कथानक समझदारी के साथ एकांकी नाटक में लाए जा सकते हैं। अद्भुत कथाएँ, साहस के आख्यान, जासूसी वृत्त, प्रेम, हत्या के प्रसंग, हड़ताल,

बाजार की उथल-पुथल धार्मिक सहिष्णुता, राजनैतिक इन्कलाब वैयक्तिक सनक, समाजिक और मानसिक समस्याएँ सभी एकांकी नाटक में दिखाए जा सकते हैं। पर उनकी सफलता केवल नाटककार की कुशलता पर आश्रित है।

रसात्मकता तथा भावविभोरता हमारे यहाँ नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता कही जाती है। उनका प्रभाव एकांकी नाटकों में और अधिक वेग संपन्न होता है।

वास्तविकता के एक स्फुलिंग को पकड़ कर एकांकी नाटककार अपने रेखा-चित्र अथवा सुकुमार संक्षिप्त मूर्ति द्वारा उसे ऐसा प्रभावपूर्ण बना देता है कि मानवता के समूचे भावना-विश्व को झनझना देने की उसमें शक्ति रहती है। केवल कतिपय उज्ज्वल पृष्ठों में वह हमें जीवन का एक जाज्वल्यमान खंड उपस्थित कर देता है। साधारणतया लोग समझते हैं कि एकांकी नाटक बड़े नाटक का संक्षिप्त संस्करण अथवा उसका एक अंक है। यह धारणा भ्रामक है। वह बावन अंगुल का बलि को छलने वाला भगवान नहीं है और न चक्र सुदर्शन के साथ विष्णु का हाथ। वह अपनी निजी पृथक सत्ता रखने वाला साहित्य का एक अंग है। उसमें अपने निर्माण की विशिष्ट आत्मा है और उस आत्मा के व्यक्तिकरण का उसका अपना निजी ढंग है। उसका कुछ-कुछ साम्य बड़े नाटक के साथ भी है और कुछ-कुछ छोटी आख्यायिका के भी साथ। नाटक के साथ उसके साम्य और वैषम्य का संकेत कराया जा चुका है। कहानी से उसका साम्य विषय और गति का साम्य है।

एक बात यह भी समझ लेनी है कि रंगमंच का नाटकों का संबंध केवल आकार का संबंध है। नाटकों को अनिवार्य रूप से अभिनेय होने के जो पक्षपाती हैं, वे साहित्य रसिक न होकर केवल मनोरंजन के उपासक हैं।

साहित्य के सच्चे पारखी और रंगमंच के तमाशबीन दर्शकों में बड़ा अंतर है। साहित्य के अनेक अंगों में एकांकी नाटक भी एक अंग है। उसकी सार्थकता साहित्य देवता की स्थापना पर अधिक है, अभिनय अनुकूलता पर उतनी नहीं है। यदि किसी एकांकी नाटक में जीवन की ऊँची गति-विधि के साथ साथ कला का पूर्ण स्वरूप और सच्चे साहित्य की सारी आकांक्षाएँ विद्यमान हैं तो कोई सहृदय समालोचक इसलिए उसका अनादर न करेगा कि वह अनभिनेय है और नाटककार रंगमंच की एकांकी विशेषताओं में अनभिज्ञ है। हम उसे रंगमंच में न देखेंगे; पढ़कर तो आनंद ले सकते हैं।

आजकल के एकांकी नाटकों ही में नहीं समस्त काव्य साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता ऊँची चिंतना का प्रवेश है। उसमें दार्शनिकता की प्रधानता रहती है। प्राचीन परिपाटी के साहित्य रसिकजन दार्शनिकता के प्रवेश को काव्य के लिये घातक समझते हैं। उनका कहना है कि काव्य का प्रमुख लक्षण उसकी रसात्मकता होनी चाहिये। दार्शनिक विचार धारा के प्रवेश से काव्य का प्रभाव हृदय पर न पड़ कर मस्तिष्क पर पड़ता है और वह भाव विभोरता में मस्त कर देने वाली वस्तु न रह कर चिंतना की गुत्थी सुलझाने में उलझ जाती है। काव्य दर्शन ग्रंथ हो जाता है। पर आज का युग तो चिंतनाओं के संघर्ष से ही प्राण ग्रहण करता है। उसके बिना साहित्य केवल रोने हँसने वाले बच्चों की वस्तु रह जाती है। चिंतना को एकदम बहिष्कृत करने वालों ने हृदय और मस्तिष्क की क्रियाओं का नितांत स्थूल भेद समक्ष रख कर निष्कर्ष निकाला है। भाव विभोर क्षमता हृदय की वृत्ति है यह ठीक है, पर हृदय की यह सुषुप्त परिस्थिति, जिसके काव्य द्वारा जागरित हो जाने से मस्ती का आनंद मिलने लगता है, प्राणी को कहाँ से मिलती है? यह प्रश्न हमें मनोविश्लेषण विज्ञान की ओर ले जाता है। हृदय की समस्त

वृत्तियों का निर्माण इसी संघर्षपूर्ण जीवन में ही होता रहता है। सजग मस्तिष्क की क्रियाओं, परिणामों और समन्वयों का वह भाग जो उससे फिसल कर अर्धसजग अथवा असजग परिस्थिति में पहुँच जाता है और सजग मस्तिष्क की पकड़ और पहुँच से परे हो जाता है वही तो हृदय का भाव-कोष है। यही हृदय का वृत्ति-समाहार है। तादृश परिस्थिति से इसी हृदय कोष की कोई परिस्थिति फिर सजग हो उठती है। स्पंदित करने वाली परिस्थिति चाहे दृश्य जगत में मिले चाहे काव्य जगत में। सुषुप्त परिस्थिति अथवा राग का सहसा सजग होकर समस्त सजीव रूप को सहानुभूति से ओत-प्रोत कर देने का नाम आनंद है।

जब आज की मानसिक क्रियाएँ अथवा चिंतना से सजग प्रत्यय ही कल हृदय के भाव अथवा राग में परिवर्तित हो सकते हैं तब हृदय और मस्तिष्क के बीच मोटी मेड़ खड़ी करना अतार्किक है। मानवता की रुचि विभिन्नता का कारण उसकी चिंतना के विकास की विभिन्नता है। मूर्त्त और व्यक्त रूप-व्यापारों से ऊपर उठकर, अमूर्त अव्यक्त और अवच्छन्न रूप-व्यापारों में लीन होने वाला हृदय विकसित चिंतना और समुन्नत सभ्यता का परिचायक है। अमूर्त रूप-व्यापारों की निबंधना में चिंतना का प्रवेश स्वाभाविक है। सच्चा कवि जीवन की मार्मिक गुत्थियों का निर्देश ही नहीं करता, वह निसर्ग के सजग स्पंदन को ही नहीं दिखलाता, वरन उन गुत्थियों के सुलझाव और निसर्ग के तिरोहित प्राण को भी स्पष्ट करने में उसी तल्लीनता से चिंतना को पकड़ता है। सच्चे रसिक के लिये यह काव्य रूखा नहीं। यह मानसिक प्रयास की वस्तु नहीं। उसकी भीतरी रुचि इसी में रमण करती है। हृदय और मस्तिष्क का वह इसमें पूर्ण सोहाग पाता है। जिन व्यक्तियों को दार्शनिक कहे जाने वाला काव्य रूखा और नीरस प्रतीत होता है और दुरूह अथवा जटिल मालूम होता है उन्हें बुद्धि की उन्नति

द्वारा हृदय को समुन्नत करना चाहिये। ऐसे काव्यों को कई बार पढ़ना और मनन करना चाहिये। जितने ऊँचे स्तर से कवि ने अपनी कृति की सृष्टि की है उतने ऊँचे पहुँचने का प्रयास करना चाहिये।

यह कहना कि जो उक्ति सीधे जाकर हृदय पर चोट नहीं करती वह कविता नहीं है, सत्य भी है और असत्य भी है। यदि हमारे हृदय का परिष्कार ही नहीं हुआ, यदि ऊँची चिंतना को प्रवेश करने के लिये हमारा हृदयद्वार काफी प्रशस्त नहीं है, यदि हमारे हृदय को व्यक्त से ऊपर उठकर अव्यक्त और अमूर्त्त के साथ रमण करने का अभ्यास नहीं है, अथवा हमारा हृदय काफी व्यापक सहानुभूति नहीं रखता, यदि हम ध्वन्यात्मक उक्ति के व्यंग्यार्थ तक सहसा पहुँच नहीं पाते, यदि हमें दुरूह और ऊँची चिंतना की डोर पकड़े रहने का अभ्यास नहीं है, तो हमें किसी भी उक्ति पर यह दोष लगाना कि वह सीधे हृदय पर प्रभाव नहीं डालती अपनी मूर्खता प्रदर्शित करना है। हम स्वयं देखते हैं कि हृदय और बुद्धि वैषम्य के कारण काव्य के मर्म तक पहुँचने में कितना अंतर पड़ जाता है। हाँ काव्योक्ति सदोष वहाँ हो जाती है जहाँ कृतिकार बुद्धि के प्रत्यय को ऐसे तत्वों के साथ समीक्षा करने बैठ जाता है जो उसके हृदय में स्वयं पैठे नहीं हैं। उसकी असजग अथवा अर्ध सजग परिस्थिति में तादृश परिस्थिति है ही नहीं अतएव वह स्वयं झंकृत अनुभव नहीं करता। ऐसी अवस्था में वह दूसरे के हृदय को भी स्पर्श नहीं कर सकता।

ऐसा व्यक्ति यदि अपनी निबंधना में सहेतुक व्याख्या के रूप में किसी सिद्धांत के प्रतिपादित करने का प्रयास करे भी तो वह किसी दार्शनिकवाद की सृष्टि कर सकेगा, काव्य की नहीं। विषय को सुलझा-सुलझा कर सरल छोटे-छोटे वाक्यों में मस्तिष्क प्रज्ञात्मक

शैली के सोपान में ऊर्ध्वगमन कर सकेगा पर मस्ती के पालने में बिठाकर पैंग नहीं लगा सकता। हृदय में घुली-मिली विचार-धारा और चिंतना के न जाने कितने रंग-विरंगे पंख होते हैं। सच्चे कवि की कृति में नाना आकार प्रकार की स्वतः निसृत उक्तियाँ उसी प्रकार एक के बाद एक सजती हुई चली जाती है जिस प्रकार नाचते हुए मयूर के रगं-विरंगे पंख। मयूर के पंखों में भी विभिन्न रंगों की रेखाएँ होती हैं और उन्हें ज्ञान के प्रकाश में गिना जा सकता है पर उन्हें गिनने कौन बैठता है? उसके नृत्य के साथ पंखों का समूचा सौंदर्य घुल मिलकर भीतर तूफान मचा देता है। कुशल काव्यकार की उक्तियों की दार्शनिक चिंतनाएँ कौन सुलझाये बैठता है, उसके समूचे सौंदर्य की ठेस रसिकों को तिलमिला देने के लिए पर्याप्त है।

'लगन' की समीक्षा

जिस समय मैं झाँसी हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में सम्मिलित होने गया, उस समय श्रीवृंदावनलालजी वर्मा द्वारा मुझे उनकी तीन कृतियाँ मिलीं। 'लगन' उन्हीं में थी। यह पुस्तक सबसे छोटी है। इधर उन्होंने और कई पुस्तकें लिखी हैं, परंतु छोटी होने के कारण 'लगन' की समीक्षा यहाँ दी जाती है।

यह छोटी पुस्तिका एक आदर्श कहानी है, जिसमें भावों की उत्कृष्टता और छोटी घटनाओं की महत्ता प्रदर्शित की गयी है।

वैसे तो कोई भी प्रौढ़ लेखक अपने प्रौढ़ भावों को प्रौढ़ भाषा में प्रकट करने में बहुत कुछ समर्थ हो सकता है; परंतु इस छोटी सी पुस्तक की और भी विशेषताएँ हैं। यह पुस्तक जिस उद्देश्य से लिखी गयी है उसे सुचारु और पूर्णरूप से वहन करती है और साथ ही जनता की प्रचलित हिंदी-उर्दू सम्मिलित सरल भाषा तथा कभी-कभी समयानुसार अशिक्षा के प्रभाव से व्यवहार में आने वाली ग्रामीण भाषा के सुंदर प्रयोग से अलंकृत है। इस कहानी का लेखक उच्च कोटि का अधिकारी है। शिक्षा-प्रद कहानियों का सिद्धहस्त लेखक है।

एक कुशल लेखक को भाव, बुद्धि और कल्पना की उड़ान के लिए किस प्रकार हर एक स्थान में क्षेत्र मिल जाता है, यह इस सच्ची बीती कथा में दिखाया गया है।

हम जानते हैं कि लेख को उत्तम बनाने का सबसे अच्छा ढंग अलंकार, उपमा और रूपकों का प्रयोग किये बिना बहुत कठिनता से निकाला जा सकता है, और सचमुच ही आभूषण-विहीन

शैली द्वारा लेख को काव्य-सेवी पंडित-समाज भी उत्तम स्वीकार नहीं करेगा। किंतु यदि उस अलंकारिक विधि से लेखक अपने उद्देश्य को कैंडी में आविष्कृत बुद्धि का दाँत बना दे, तो कुछ धुरंधरों के अतिरिक्त सारी जनता को वह कभी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस पुस्तक में ऐसा कोई प्रयास नहीं है। इसमें भाषा-सरलता के अतिरिक्त और कोई दूसरा प्रयोग नहीं किया गया है। जनसाधारण के लिए वह इतनी सुबोध है कि यही उसका सबसे बड़ा गुण और यही उसका सबसे बड़ा दोष है।

इस पुस्तक का ध्येय है—"जनता के बीच में दहेज-प्रथा के दुष्परिणाम द्वारा आनेवाली आपत्तियों से सावधान होने की वृत्ति पैदा करना, और नवयुवकों की क्रांति द्वारा उसके निर्मूल हो जाने की पूरी आशा बाँधना।" यदि सर्वहित का ध्यान न रख कर इसकी सरल और सहज भाषा को अलंकार के पद से ढक दिया जाता, तो यह पुस्तक अपना उचित प्रभाव उत्पन्न करने में कदाचित् समर्थ न होती। तथापि यह पुस्तक अपने सतत प्रवाह में तटस्थ वैज्ञानिक सत्यता को मार्जन देती हुई पथ को चिकना और चुटीला बनाने के रोष में रूपक, उपमा और अलंकारों की मोती-सी चमकती हुई बूँदें झलकाती है।

सम्भव है, सौर-मंडल में विहार करनेवाले मस्तिष्क इस बृह-त्काय हस्ती को भी चींटी ही समझें, अथवा बाल की खाल निका-लनेवाले प्रखर समीक्षक इसकी हड्डियों को भी तोड़-मरोड़ कर फेंक दें, किंतु मार्मिक दृष्टि सम्पन्न और हृदय संयुक्त समाज इस पुस्तक को अधिक से अधिक श्रेय दिये बिना न रहेगा।

नाटकों, उपन्यासों और कथाओं में घटनाओं का क्रम और पात्रों का चरित्र विशेष ध्यान देने योग्य अंग हैं। 'लगन' में कथा-खंडों का क्रम इस उत्तम विधि से दिया गया है कि जब तक

सारी पुस्तक को आद्योपांत पढ़ न लिया जाय, तब तक किसी पात्र की नीचता अथवा महत्ता का अनुमान करना ही भूल का विषय हो जाता है। परिच्छेदों की संख्या यद्यपि २२ है, किंतु चंद्रकांता-संतति से इसकी तुलना करना भूल है। इसके प्रत्येक खंड का भाव उसी समय प्रत्यक्ष होता जाता है और मस्तिष्क को रगड़ और घिसन के स्थान में स्पर्शानंद मिलता है। इसका प्रत्येक खंड इतना रोचक है, साथ ही उसमें शांति और चंचलता, हर्ष और विषाद क्षोभ और साहस का इस विधि से सम्मिश्रण किया गया है कि ये भावनाएँ हृत्तंत्री में स्थानांतर से विभिन्न संगीत की ध्वनि उत्पन्न करती है। पाठक की लालसा अगले खंड की ओर दौड़े बिना रह ही नहीं सकती। हम इसके उपक्रम को अच्छे से अच्छे उपन्यास के भावानुक्रमीय उपक्रम से कम नहीं समझ सकते।

पाठक देखेंगे कि कुछ परिच्छेदों को यदि अलग न किया जाता, तो कथा में कोई अंतर न पड़ता, क्योंकि उनमें एक लगातार बात कही गयी है। किंतु यदि ऐसा न किया जाता तो, बहुत सम्भव था, पाठकों को पूर्ण परिच्छेद की घटनाओं को एकत्र करने में मस्तिष्क को कष्ट देना पड़ता, और स्पर्शानंद का गुण इससे चला जाता।

यह भी जान पड़ता है कि कुछ परिच्छेद बिल्कुल अनावश्यक से हैं, किंतु इनकी आवश्यकता इसलिए हुई कि यह एक सच्ची कथा है, और इसे अधिक कल्पना के रूप में ढालना लेखक की इच्छा के विरुद्ध था। इतना करके मूर्खता की बातों का जो दिग्दर्शन किन्हीं खंडों में कराया गया है, उसी को, थोड़ा शब्दों से बढ़ा कर, हास्य की वस्तु बना दिया गया है, और ऐसे परिच्छेदों की अनुपस्थिति में सड़कों के बीच में बने हुए पार्कों की भाँति, कुछ परिच्छेद

केवल दृश्य-वर्णनात्मक रख कर लेखक ने शिकायत का अवसर ही नहीं रखा।

हम यह भी कह सकते हैं कि जब घटनात्मक परिच्छेद इतनी लालसा पैदा कर देते हैं कि आगे की बात जानी जाय, तो ऐसे परिच्छेदों को रख कर आगे के लिए प्रतीक्षा कराना लालसा को और बढ़ाना है। इनको पढ़ते समय पाठकों के हृदय को पिछले अन्य गुणों को सोच कर खंड की महत्ता समझने का अवसर मिलता है, और कथा अधिक आनंददायिनी बनती जाती है।

इन खंडों में कुछ परिच्छेद बड़े महत्व के हैं। उनमें पिछले खंडों की घटनारूपों के चक्र चलते हैं और उनका घूमना सुन्दर मालूम पड़ता है।

प्रधान नायक देवसिंह नवयुग के भावों से लिप्त नव-युवक है। उसका ब्याह पिता और ससुरजी निर्धारित करते हैं। दहेज की ठहरौनी के कारण पिता शिबू ससुर बादल के गाँव से केवल दहेज पूरा न पा सकने की खबर सुन कर रुष्ट हो बरात लौटा लाता है और देवसिंह को अपनी पत्नी रामा से संबंध-विच्छेद कर लेने को मजबूर-सा करता है। वह सदैव उसके पास रहने की चेष्टा करता है। किंतु पवित्र भावों और जवानी की उमंगों ने देवसिंह को अँधेरी रातों में, गर्मी की तपती हुई दोपहरियों में वर्षा से उमड़नेवाली नदियों के पार करने में, रात में पीछे दौड़ने वाले कुत्तों का भय देख कर भी रामा के गाँव जाने में उसे प्रवृत्त किया। सच्चा देवसिंह दृढ़ था कि न मेरा ही दूसरी जगह ब्याह हो और न रामा ही का। अनेक बार झूठ बोला अनेक बार चोर बना और कई बार उसने झगड़ा मोल लिया। अंत में सफल भी हुआ। वह रामा का और रामा उसी की रही। साथ ही एक भी परिजन वैमनस्य का दोषी न रहा। प्रेम ने सभी को प्रेम करने को मजबूर कर दिया। यही कथा है।

पाठक देखेंगे कि देवसिंह के भावों की उन्मत्तता और विचार-शीलता का समन्वय बड़े से बड़े चरित्रवान महापुरुष के गुणों से कम महत्ता नहीं रखता। उसकी पत्नी रामा का चरित्र अथवा पातिव्रत धर्म भारतीय प्रसिद्ध नायिकाओं से समानता रखता है। रामा के पिता बादलजू, उसका भाई बैताली तथा पन्नालाल, जिसके साथ रामा की सगाई करने की इच्छा बैताली विशेष रखता था, सभी प्रसिद्ध पात्र कहे जा सकते हैं। इस कथा के सभी पात्र ग्रामीण चरवाहे हैं।

पाठक और लेखक यह सभी स्वीकार करेंगे कि हाथी अथवा उसके अंगों को सभी साधारण दृष्टि से देख कर उसके सभी सूक्ष्मांगों तक का वर्णन सरलता से कर देंगे, और चींटी के अंगों का वर्णन करने के लिए उन्हें माइक्रोस-कोप को प्रयोग में लाकर बड़ी सावधानी से काम करना पड़ेगा। चींटी के अंगों का विवेचन सूक्ष्म दृष्टि और सूक्ष्म-बुद्धि की अपेक्षा रखता है। यही कारण है कि साधारण विधि से वर्णित उन राजसंतानों का चरित्र आदर्श बन जाता है। किन्तु इन ग्रामीणों को आदर्श बनाने में लेखक ने जो शान प्रदर्शित की है, उसकी महत्ता किसी पौराणिक लेखक की शान से कहीं अधिक बढ़ जाती है।

पौराणिक कथा में केवल हृदय-प्रेम के ही आधार पर सारी घटनाएँ घटित हुईं, किन्तु इस कथा में हृदय-प्रेम, पवित्र संबंध की रक्षा, दहेज की कुप्रथा आधार माने गये हैं।

प्रथम परिच्छेद में लेखक ने विवाह में ठहरौनी-प्रथा का नग्न चित्र अंकित किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रत्येक जीवित हृदय दहेज की माँग को 'खसौट' की भाँति ही बुरा ठहराएगा। लेखक का यह वाक्य कि "शिबू ने बादल से सौ भैंसे दहेज में देने का वचन खसौट लिया" प्रत्येक निर्धन हृदय में एक बड़ी ठेस

लगाता है और इस प्रथा के विरुद्ध क्रांति करने की भावना उत्पन्न करता है।

इसी खंड में दहेज के पूरा-पूरा न मिल सकने की अफवाह मात्र ही से दहेज-प्रथा के स्तम्भ और समर्थक वर-पक्षियों के ताप-क्रम की विवेचना उल्लेखनीय है।

शिबू ने कहा—"चलो, बहू की बिदा न करावेंगे। भैया का दूसरा ब्याह होगा। लड़कियों की संसार में टूट नहीं है। बादलवा अपने सिर में रखले। अब हम तो छोड़ छुट्टी ही देंगे," आदि। सब सहमत हो गये। कहा अच्छा है, कहीं और जगह शादी कराएँगे। एक ने तो यहाँ तक कहा कि बेरौल (बादल का गाँव) में आग लगा दो।

इसी विवरण के साथ यह कह देना कि प्रत्येक युग में, और प्रत्येक स्थान में, एक न एक समझदार व्यक्ति मिल ही जाता है समयानुकूल अनुभव की बात प्रकट करने के गुण में लेखक के यथार्थ ज्ञान का पता लगता है।

ऐसे स्थानों पर क्षण भर के लिए ही बुद्धि का सहारा माँगनेवाले नवयुवकों की उष्ण-प्रकृति का उस क्रुद्ध बाराती समूह के दृश्य से उत्तेजित होकर जो जाज्वल्य-मान स्वरूप बनता है, उसका अभिज्ञान निम्न-लिखित शब्द बहुत सुंदरता से कराते हैं।

वैताली ने आकर बादल से कहा—"जी चाहता है कि मर जाऊँ और मार डालूँ, यदि आपने इन बदमाशों को जूता लगवाकर गाँव से न निकाला तो हमारे जीवन पर धिक्कार है।"

वृद्ध-बुद्धि बादल भी बहक कर क्रोध से गालियाँ दे उठता है, जिन्हें लेखक ने व्यंग्यात्मक विधि से 'मधुर वचनावली' का नाम दिया है और अपनी घृणा का परिचय दिया है। सचमुच यह वाक्य-खंड लेखक की बुद्धि की दौड़ान में एक सुंदर स्टेशन है।

शिबू रुष्ट होकर बारात लौटा लाया और फिर कभी संबंध न जोड़ने की प्रतिज्ञा कर ली। पाठकों को ध्यान रहे कि लेखक ने यह सब अवस्था केवल दहेज के न मिलने की आशंका की अफ-वाह मात्र से उत्पन्न हुई दिखायी है।

द्वितीय परिच्छेद में देवसिंह, उसकी दिनचर्या, बेरौंज का नदी-घाट और तटस्थ प्राकृतिक सुषुमा का भाव-पूर्ण उल्लेख किया गया है।

देवसिंह एकांत में अपने बाल्यावस्था पर विचार करता है। शिबू विचारस्थ देख कहता है—"तुम्हारी शादी हुई, पर दुलहिन न आई, इसीलिए तुम्हें इतना सोच है क्या? अरे, इसी महीने में पंद्रह ब्याह करा दूँगा। मुझे तो उस नटके बदलवा की ठपक मिटानी थी। बड़ी नाकवाला बनता था। अब लड़की के लिए घर ढूँढने में सिर के बल चलना पड़ रहा होगा।" फिर शिबू का हँसना इस स्थान पर विरुद्ध पार्टी की पराजय को सरे आम प्रकट करने में अपने को धन्य समझने का प्राकृतिक गुण प्रकट करता है। आगे देवसिंह की बहस में शिबू ने यह भी प्रकट किया कि उसने, "कन्या को दूसरे घर में बिठाले जाने की खबर लानेवाले को भी दस गालियाँ सुना दीं।" रोप में मूर्खता का परिचय तथा दहेज न पाने के कारण संबंध-विच्छेद रखने की दृढ़ता का प्रकटीकरण इसमें हैं।

तीसरे परिच्छेद में देवसिंह का नदी पार करके पत्नी के घर की ओर अग्रसर होना, किंतु पास के ऊँचे पीपल के वृक्ष के पास ही रुक जाना, दिखाया गया। वह खड़ा होकर विचार करता है। हृदय में पिता के शब्द—"हमने छोड़छुट्टी दे दी' चाहे जहाँ बिठला दो।" सहसा ध्वनि हुई, "बिठला दो, असम्भव!" किंतु यह निर्भयता पिता का स्मरण आते ही भय में इस प्रकार परिवर्तित हुई कि उसे पिता साक्षात दिखायी पड़े। उनकी लम्बी

डाँट भी उसके कानों से मस्तिष्क तक घुसी, यद्यपि वहाँ वास्तव में था कुछ नहीं। उसने प्रेम और लालसा से गाँव के घरों पर दृष्टि डाली, और लेखक के रचना-चातुरी के शब्दों में "किसी सबसे ऊँचे घर के किसी खंड के, किसी की कल्पना की।" वहाँ से घर की ओर चलने को उद्यत हुआ, पर भला पैर और हृदय यों ही लौट आते। "एक बार घर देख आऊँ" के साथ एक सच्चा असमञ्जस मय चित्र पाठकों के सामने आया। इस कथांतर में लेखक ने रामा के द्वार का वर्णन शैली चित्ताकर्षक की है। वह जाता है और देखता है।

"द्वारा पहचान लिया। विवाह के बंदनवार अब भी लटक रहे थे। केवल जहाँ जामुन के पत्तों का गुँथाव था, वहाँ वे कुछ सूख गये थे। दीवारों पर चितेरों के बनाये हुए चित्र अभी ज्यों के त्यों बने थे।"

तुरंत ही वह तनमय हो गया, और एकाएक उसके मुँह से प्रेम की धुन और लगन की पवित्रता के परिचायक ये शब्द निकल पड़े—

"वह भी इसी के नीचे से इस धरती पर निकलती रहती होगी और मैं इस समय यहाँ खड़ा हूँ।"

ये शब्द यदि कालीदास के दुष्यंत ने शकुंतला के लिये कहे होते, तो भी उनसे कवि का गौरव ही होता। किंतु कुत्तों का शोर और आती हुई किसी आकृति की कल्पना, जो भय से स्वाभाविक हो जाती है, उसके हृदय में इंजिन की धधक के साथ उसे भगाती हुई नदी पार ले गयी। जगे हुए शिबू ने खाट में खाँसते हुए देवसिंह से जाने का समय और कारण पूछा। क्या देर से जाग रहे हो? उत्तर मिला "नहीं तो, अभी आँख खुली है" यहाँ प्रत्यक्ष होता है कि प्रेम में झूठ बोलने का अवसर अवश्य आता

है। अवश्य लेखक की आत्मीय वाणी कि "युवा देवसिंह का झूठ बोलने का यह पहला अवसर था" बड़ा प्रभाव करती है।

चौथे परिच्छेद में बादलजी का अपनी गलती समझना, किंतु बैताली का पन्नालाल ऐसा सुन्दर दूसरा वर ढूँढ़ लेना बुरा न लगना, और अपना पिछला काम बनाने की सोचना मुख्य है। इस खंड में पन्नालाल के शरीर तथा पहनाव का सूक्ष्म किंतु संक्षेप वर्णन सराहनीय है।

आयु २३-२४ वर्ष की थी। गोरा चिट्टा था, शरीर का छोटा, आँखें खासी, माथा चिकना पर जरा छोटा। सारी आकृति दूर से देखने पर खूब-सूरत मालूम पड़ती है, परंतु पास से देखने पर आँखों में खोखलेपन की झलक और सीधी तथा मोटी नाक सौंदर्य की सम्यकृता में विघ्न डालती थी। साफा वह सदा रंगीला और रंग-विरंगा पहनता था और कपड़े स्वच्छ। इस लिए घर में कोई विशेष सम्पत्ति न होने पर भी बादलजी के लड़के ने इसी को ही अपनी बहन के लिए पसंद किया।

पन्नालाल को खबर नहीं दी गयी पर पता उसने जरूर पाया। सुन कर हृदय की हिलोरें किधर गयीं, उसका स्वाभाविक वर्णन हृदय को आर्द्र करना है। उसकी दशा क्या हुई, इसका वर्णन कितनी उत्तमता से एक पैरेग्राफ में किया गया है।

उस दिन से पन्ना को अपने घर के आस-पास भैंसों के बगर के बगर स्वप्न में दिखलाई देने लगीं। क्या यह बतलाने की आवश्यकता है कि बालों में तेल ज्यादा पड़ने लगा। साफे अधिक लहरियादार तथा इंद्रधनुषी बाँधे जाने लगे

पाँचवें परिच्छेद में नाले पर सुभद्रा के साथ रामा नहाने जाती है और कोमलता से कहती है—"तू चलती है, सुभद्रा! बैठ लो ठंढे में नहायँगे।" उत्तर मिलता है, "क्यों किसी की बाट

जोहनी है ?" सचमुच यौवनावस्था से उत्पन्न चञ्चल प्रकृति का वास्तविक परिचय तथा मन खोल कर पाठकों के सम्मुख रखने का निमित्त इस वार्ता का मूल कारण है। सुभद्रा के परिहास पर रामा घूँसा मारती है, और सुभद्रा ने मुस्कराती हुई आँखें मिला कर, "तुमने तो घूँसे से मेरा जान लेली" ऐसा प्रेम परिपूर्ण शब्द उत्तर में कहा।

पाठक नीचे अंकित संलाप को पढ़ कर अवश्य ही वाक-लालित्य से मिलने वाली प्रसन्नता का अनुभव करेंगे—

रामा ने कहा—"मेरे भीतर तो कुछ नही है।"

सुभद्रा—"जरा भी नही है ?"

रामा—"जरा भी नही है ."

सुभद्रा—"कोई भी नहीं है ?" कोई उत्तर न देकर प्यार भरी चपत रामा ने मारी।

उसके बाद सुभद्रा ने फिर नये ब्याह की बाबत रामा की इच्छा जानने के प्रश्न पूछे। अनेक प्रश्नों के उपरांत रामा का दुखद उत्तर पाठकों का हृदय अपने देश की निर्बलता, और वहाँ की कुप्रथाओ अथवा अधर्म की प्रवृत्तियों की ओर अवश्य ही ले जायगा।

सुभद्रा ने पूछा, "तुम्हारे जी में पहाड़ी के वर के लिए कोई चाह नहीं है ?"

रामा ने कहा,—"मेरे लिए चाहने न चाहने का सवाल नहीं है। घर के लोग जो कुछ तै करेंगे, सिर के बल मानना पड़ेगा।"

सुभद्रा—"यदि मैं जानती कि तुम बताने का वचन देकर तोड़ोगी, तो कभी अपनी बातें न बताती।"

यह कह कर वह दूर जा बैठी। रामा उसके कंधों में हाथ डाल कर कुछ क्षीण आवाज से बोली। सुभद्रा चुप रही। इस अवसर पर रामा के आँसू आ गये। बड़ी विनय के साथ बोली—"तुम बुरा मान गयीं। तुम्हीं कहो, अपने बाप-भाइयों की मर्जी के खिलाफ मैं कौन सी बात जी में बसने दे सकती हूँ?"

सचमुच कट्टरों के सामने न्याय-धर्म कोई वस्तु नहीं है। स्त्रियों को भारती दासत्व से स्वाधीनता न देना ही वे सुख समझते हैं, किंतु स्त्रियाँ इन्हीं आघातों से क्रुद्ध होकर अवश्य ही उनके विरुद्ध क्रांति करेंगी। उनके हित के कानून पुरुषों को मानने पड़ेगें, और तभी वे समझेंगे। लेखक इस दृश्य को कितना भाव-पूर्ण और प्रभावशील बना सकता है, उसकी सफलता यही बताती है कि प्रत्येक पाठक उनकी दुर्दशा पर रो पड़ता है।

छठवें परिच्छेद में देवसिंह घर से सैनिक सा सज कर रवाना होता है, किंतु बादल बाहर जाने से रोक देता है। पाठक यह स्वयं अनुभव करेंगे कि देवसिंह के हृदय में इससे कितनी गहरी चोट लगी होगी और उसके हृदय में कैसी-कैसी भावनाएँ उठ कर शांत हुई होंगी।

देवसिंह दो पहर के समय ही तपता हुआ चुपके से जाता है, और नदी-पार बरौल के नाले के पास एक टीले पर ध्यानावस्थित होता है। इसी समय पन्नालाल आकर अपनी लंबी-चौड़ी हाँकता है। देवसिंह अपने को चरवाहे का नौकर बताता है। उसने अपनी चटक-मटक को चटकीली बातों से और भी बढ़ा दिया। उसने आँख के कोने से देख कर पूछा, "कभी किसी से तुम्हारी आँखें उलझी हैं?" फिर आगे चल कर कहता है, "मैं हृदय के बिलकुल तले को टटोल लेता हूँ, और उड़ती चिड़िया भाँपता हूँ। इस थोड़ी उमर में न जाने कितने नर-नारियों को परख चुका हूँ।" आदि

उस छैल-छबीले ने कह डाला। किंतु "होगा साहब। मैं तो नौकर आदमी हूँ। इन बातों को मैं क्या जानूँ।" कह कर देवसिंह ने सीधे साधे सादेपन की शरण ली। पन्नालाल कहीं जाता है।

सातवें परिच्छेद—छठवें खण्ड में, पन्ना के अंतिम वाक्य, पर "आज तो मेरी बरोली में बादलजू के यहाँ दावत छनेगी", देवसिंह विचार करता है और विह्वल होता है। उसकी बातों से समझा था कि रामा से इसी की सगाई होगी! मन में कहने लगा, "अरे यहीं क्यों न गला दबा डाला।"

इसी समय दो कन्याएँ रामा और सुभद्रा आती दिखाई दीं। देवसिंह एक चट्टान के नीचे छिप गया और कान देकर उनकी बातें सुनने लगा। सुभद्रा ने अभी-अभी पन्ना को देखा था। उसने रामा से कहा, "कैसा बाँका-तिरछा युवक है!" रामा ने रूखेपन से कहा—"तेरा मुँह, सब कपड़े लुगाइयों के से पहने हैं, केवल लहँगे की कसर है।"

उक्त लेख में 'तेरा मुँह' ग्रामीण प्रयोग का पूर्ण प्रचलित महावरा है। इसी स्थान में लेखक की निम्न-लिखित उक्ति हृदय में आनंद की लहराती गंगा का प्रवाह बहाता है—

"यह मीठा-कोमल स्वर देवसिंह को बहुत मधुर मालूम हुआ। बातचीत के बीच में थोड़ा-सा हास हो जाता था, उसका शब्द ऐसा मालूम पड़ता था मानों चाँदी के थाल में मेंह की बूँदें।"

सुभद्रा ने फिर कुछ कहा, जिसके उत्तर में रामा ने मारने को हाथ उठाया। देवसिंह ने उसके हाथ को देख कर उसे पहचान लिया। पाठक समझते हैं कि लेखक भी इस समय किस अवस्था को प्राप्त होकर क्या कह रहा है, किंतु ये शब्द भाव को बहुत ही उत्कृष्ट विधि से प्रगट करते हैं। फिर पहचान की बातें भी कितना विह्वल करती हैं और स्मृति को कहाँ तक दौड़ा सकती हैं, यहाँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

देवसिंह ने कुंदन से बढ़ कर आभा रखनेवाले उस हाथ पर अपने यहाँ के चढ़ाये हुए आभूषण पहचान लिये। उँगली की अँगूठी पहिचानने में भी भ्रम न हुआ। इच्छा हुई कि बाहर निकल कर उस हाथ को अपने होंठ से लगाये। पर, साहस न हुआ।

पाठक देखें कि 'पर' शब्द यहाँ कितना महत्व रखता है। यही यहाँ पातक है और यही यहाँ घातक है।

पन्नालाल आ गया। इधर-उधर की बातों में उलझाता हुआ दोनों भोली कन्याओं से छेड़खानी करने लगा। रामा लगातार रूखी ही बनी रही, किंतु फिर भी वह कामांध निम्न-लिखित वाक्यों से प्रसन्न कर के प्रेम जीतने की आशा करता ही रहा।

उसने सुभद्रा से कहा—"आप अपनी ही बात कहती हैं कि उनकी भी कह डालती हैं? वह तो बोलती ही नहीं हैं।" फिर, "एक बार जी-भर यहाँ नहीं देख पाया, तो कहीं न कहीं तो देखूँगा ही।" आदि अनेक बातें ऐसी कहीं, जिसने रामा, जो पवित्रता की उपासक थी, दुखित हो गई।

उनके झिड़कने पर वह चट्टान के ऊपर की ओर बढ़ा, जिसके नीचे देवसिंह छिपा था। देवसिंह इस समय उसकी बातों से पहले से ही अकड़ कर निकल खड़ा हुआ। पन्ना के होश फाख्ता हो गये। रुक कर बनावटी शक्ति से धमकी में बोला। देवसिंह सचमुच सिंह ही था, झट लाठी को मजबूती से पकड़ा और पन्ना को धारा-शायी कर ही देनेवाला था कि प्यारी रामा का कोमल स्वर उसके कानों में झंकृत हुआ। उसकी पतली वाणी, "झगड़ा मत करो। घर जाओ। मार्ग बीहड़ है। साँझ हो गई है। अपनी भैंसे ढूँढ़ लो। गाँव पास है, क्यों व्यर्थ रार मोल लेते हो," देवसिंह के हृदय में प्रभाव कर गई। दोनों ने दोनों को समझा। सचमुच खी होकर रामा ने ये शब्द कह कर जो साहस और प्रियतम की

कल्याण-प्रियता दिखाई, वह किसी भी शूर क्षत्राणी के लिये उचित था। इतना कह कर वह भी चल दीं। पन्ना भी तिरछी काट गया। इसी समय घर जाते हुये, देवसिंह ने ललकती हुई आँखों को रामा की ओर झुका दिया। प्रेम की प्रेरणा! रामा ने भी इसी समय पीठ की ओर घूमकर प्रेम-भरी दृष्टि से एक क्षण अपने किसी को देख लिया।

यह घटना कितनी सुंदरता से भरी गई है। वास्तव में इस दृश्य का आनन्द शब्द क्या करा सकेंगे। लेखक ने यहाँ पर अपने सभी मुख्य पात्रों को एकत्र करके सारे अंगों को भी एक ही बिन्दु पर केंद्रीभूत किया है। अब तक खंडों का सूखा वर्णन किस उत्तम समाप्ति तक पहुँचा और यह समाप्ति अब कौन-कौन गुल खिला सकती है, इसका अनुमान पाठक केवल एक वाक्य से इस समय की घटना से ही कर लेंगे।

"जिस समय देवसिंह ने अपनी आँखें पीठ की ओर घुमाई, रामा ने भी उसे देखा।" यही फल होता है सच्ची लगन का, भक्ति का, प्रेम का। किंतु देवसिंह घर नहीं गया। उसकी लालसा यह जानने की हुई कि रामा को दूसरा करार पसंद है या नहीं।

आठवें परिच्छेद में शाम के वक्त देवसिंह का बरेलि के पास के एक पीपल के नीचे पहुँचना, और वहीं दोनों लड़कियों का दीप जलाने आना बताया गया है। रामा से सुभद्रा ने अनेक ऐसे प्रश्न किये, जिनके उत्तर में वह अपना देवसिंह के लिये आकर्षण प्रकट करती, लेकिन पिता और भाई के भय से वह कुछ कह तो सकी नहीं, सब टालती रही। हाँ, पन्ना के लिये घृणा के शब्द अवश्य कहे। रामा ने एक आटे की पिण्डी के किसी और के लिये रखी। सुभद्रा ने बहुत आग्रह से आन की बात पूछी, पर उसने प्यार से "आस पूरी हो, तुझे सोने का अच्छा गहना बनवा दूँगी।" कह कर बात टाल दी।

देवसिंह की आँखों और कानों की पहुँच में, रामा और सुभद्रा की ऐसी बातचीत सचमुच अनुपम मिठास रखती है। वे दोनों चली गयीं। देवसिंह ने भी जोड़ा मिला कर पिण्डी रख दी। यही उनके प्रणय का कारण सा प्रकट होता है। फिर उसके गाँव मे देवसिंह लौट आया।

नवें परिच्छेद में पन्नालाल के उसी दिन के बेरीलगमन का वर्णन किया गया है। उसने इच्छा की कि रात में रहने को मिले, ताकि यदि सम्भव हो तो वह रामा से मिल सके। पर बादलजू कोई प्रेम न दिखा कर साफ़ साफ़ बात कहते रहे। रात में बादलजू ने बैताली के साथ कुछ आदमी करके पन्ना को वापिस किया। बैताली ने शादी की बातें बड़े जोरों से कहीं, जिनसे उसने बनावट क साथ अन्य बातें कहीं, किन्तु यह भी मूर्खता से कहा, "हम आप तो भाई-भाई हैं। हमें आप जो आज्ञा देते हैं वह तो मुझे माननी ही पड़ेगी। भाई कुछ हो।" "दावत में पन्ना सबसे देर तक खाता रहा," (ताकि घर में एक नजर कहीं से रामा पर डालने को मिले) 'पर खाया बहुत कम', ये वाक्य परिच्छेद का आधार हैं। पन्ना को बिदा करते समय आनंद के इच्छुक पन्ना से उसके बार-बार प्रार्थना-सी करते रहने पर भी बादलजू ने जो शब्द कहे थे, वे एक स्वाभिमानी को बादलजू का पक्का शत्रु बना सकते थे। किन्तु यहाँ तो कमजोरी थी अपनी।

उसके हृदय में कटार-सी लगीं। उसकी चमकती हुई आँखें पृथ्वी की ओर झुक गयीं। उसी पीपल के पास से (जहाँ अभी शायद देवसिंह भी खड़ा हो, ऐसा कुछ कहा जा सकता है) बैताली वापस लौट आया। उसका बिदा होना भी पन्ना को एक सदमा-सा हुआ। उसकी दशा वर्णन करता हुआ लेखक कल्पना को कितना उत्थान देता है, साथ ही तीनों पक्षों के प्रतिनिधियों का

ईश्वर और पाठकों के सामने किस प्रकार मिलान करता है, इसका प्रमाण आगामी दृश्य है।

उन दोनों के चले जाने पर पीपल की अँधेरी छाया से एक छाया निकली, जो नाले की ओर जानेवाले मार्ग से चली गई।

दसवें परिच्छेद में भीषण वर्षा का दृश्य अंकित है।

ग्यारहवें परिच्छेद में अपने काम की पूर्ति की इच्छा से पन्ना बढ़ी हुई नदी को तूम्बे से पार करना सीखता है। फिर एक दिन बहुत अभ्यस्त हो जाने पर बरौल गया। यहाँ बेतवा की धारा का वर्णन उल्लेखनीय है।

बारहवे परिच्छेद में देवसिंह विचार करता हुआ रामा के मकान के पास आया और रुक कर असमंजस से लौटा, कुत्ते भी भूँके।

लेखक का यह लिखना कि "देवसिंह ने सोचा, अगर कुत्ते भूँके, तो शायद कोई (सब परिजन नहीं) जाग पड़े। मन में कहा अरे रामजी! दया करके और किसी को न जगाना, किन्तु कुत्तों का भूँकना अब उसे डराने लगा।" यह उत्तम चित्रकारी का एक नमूना है। आगे फिर यह सोच कर कि "किसी की चोरी नहीं करनी है, अपनी ही स्त्री चाहता हूँ। उसने साहस धारण किया। यह वाक्य तो सचमुच ही स्थिर और ठीक निर्णय में उस वीर को एक सुंदर चरित्र-नायक बनाता है। इतने में आवश्यकतानुसार लेखक ने द्वार भी खुला दिये और कोई पुरुष निकल आया।

तेरहवें परिच्छेद में बारहवें का पूरा संबन्ध दिखाते हुए लेखक प्रकट करता है कि वह पुरुष बादलजू था, जिसने उसे पहचान कर धीरे से कहा—

"अरे पगले यहाँ क्यों आया ? चुपचाप चला जा।" देवसिंह चुपचाप सरक जाता है। बैताली स्वयं जगता है और "चोर आया ? कौन आया ? किधर गया ?" के शोर से औरों को भी जगा डाला। बादल ने सब को किसी प्रकार शांत किया। रामा भी जगी, खिड़की से झाँकी। प्रियतम ने उसे और उसने प्रियतम को पहचान लिया। अंदर से पुकार हुई, रामा ने सिर खींचा। सिहरते हुए खिड़की के किवाड़ बंद कर लिये। परंतु इसी बात को लेखक ने प्रेमी के हृदय से कहलाया—"अरे मैं देवसिंह हूँ, तुम्हारे लिए भीग रहा हूँ।" प्रेम में निराश बिदा होना प्रेम को गूढ़ बना देता है। अतः यह बात विषय को गहरा बना देगी।

चौदहवें परिच्छेद में बादलजू और बैताली की वार्ता है। बैताली चाहता है कि काम तै हो जाय, हो चाहे जब, और इसका उत्तर बादल न दे सका, इसी से उसने साधारण सलाह-सी मिला दी। उसने कहा—"पन्नालाल सुघड़ युवा है। धनी भी दीखता है। अगर इसके साथ निश्चय न हुआ, तो बहन जरूर बड़ी अभागिन है।" बादलजू निर्णय न देकर हटने लगे, किंतु इस समय बैताला की विनय उसके चरित्र में नवीन बात है, वह हाथ जोड़ कर बोला—

"आप मालिक हैं। हमारी कौन सुनता है ? अगर आप आँखें खोल कर न देखना चाहें, तो हमारा बस ही क्या है। कोई कहता है कि उस रात कोई बदमाश स्त्रियों के घर आ बिलमा था, कोई कहता है कि बजरावाला भैंसें चुराने आया था। किसका-किसका मुँह पकड़ा जाय। अपना तो हमें ही देखना चााहिये।"

उक्त लेख में बैताली यह भी प्रकट करता है कि आप को शीघ्र ही निश्चय करना पड़ेगा। किंतु बादल ने, "मैं जानता हूँ, वह कोई चोर उचक्का नहीं था। वह एक पागल था।" कह कर बात टाल दी।

उतरती हुई दोपहरिया है, पन्ना आया। झट बहुत दिनों में आने की सफाई दे डाली। बैताली अपनी ही बात की सिद्धि के लिए शिक्षा देने लगा।

"तो भी आते-जाते बने रहने में कुछ हानि तो हो नहीं सकती। मिलते-जुलते रहने के कारण स्नेह बढ़ता ही है, घटता तो है नहीं।"

बैताली भोजन का प्रबन्ध करने गया। इधर जैसी बनावटियों की प्रकृति होती है, वह शीशे में चेहरा-मोहरा देखता है और अपनी खूबसूरती के धब्बों को दूर-सा कर अंदर की ओर आशा से झाँकता है। मन में बचत का मार्ग सोचता और भय भी करता है।

जाके भय सुर-असुर डराहीं,
निसि न नींद, दिन अन्न न खाहीं।
सो दससीस स्वान की नाईं,
इत-उत चला चितै भड़ियाई।
इमि कुपंथ पग देत खगेसा,
रहै न तेज-बल-बुधि लवलेसा।

सुंदरी रामा आँगन से गुजरती हुई चली गयी। पन्ना की आँखें उँचाई पर रखी हुई पुत्तलिका-मणि कहाँ पातीं, हृदय को भी घसीटती हुई पद नख-नूपुर तक गयीं, और दबकर रह गयीं।

पन्ना ने आँख और मुख को भाँति-भाँति से घुमा कर उसे देखने की चेष्टा की और अपने आप मुस्कराया, पर कुछ नहीं।

लेखक का इस चंचलता को 'धृष्ट-निर्भय नेत्र-नृत्य!' कहना उसके प्रति उत्पन्न होने वाली घृणा प्रकट करता है।

पंद्रहवें परिच्छेद में सुभद्रा ने रामा को वह अफवाह बड़े ढंग से सुनायी, जो बैताली ने पिछले खण्ड में बादल से कही थी।

वह उस आगंतुक का नाम पन्ना कहती है, जो रात में आता है और उसकी ड्योढ़ी चूम कर चला जाता है। रामा बात का घोर विरोध करती है। उसने १३ वें परिच्छेद की घटनाओं से अपनी जानकारी प्रगट की, किंतु रामा को हँसी में टालता देख बोली—

"अब कहो या न कहो, पहाड़ी से लौट कर आओगी तब इसी चबूतरे पर बैठ कर कहला लूँगी।"

पीपल के नीचे गयी तो रामा ने अपने पत्थर पर दूसरा एक पत्थर पाया जो गुप्त रूप से प्रेम भरता है अथवा पन्ना को भय।

सोलहवें परिच्छेद में देवसिंह आता है और परिचित खिड़की के नीचे खड़ा होकर रामा के सिर को देखता है; परंतु वह तुरंत ही छिप जाता है। इस समय देवसिंह का भाव जिस रूप में लिखा गया है वह अत्यंत आकर्षक है।

"उस व्यक्ति को ऐसा जान पड़ा, मानों हाथ के झकोरों में पत्तियों में छिपे हुए गुलाब के फूल को एक क्षण के लिए झरोखा देकर फिर ढुका लिया हो।"

वह बोला—"आज खड़े-खड़े एक बात कहने आया हूँ। और कोई साध नहीं है। इसके बाद मेरे लिए संसार और संसार के लिए मैं कुछ नहीं। मैं देवसिंह हूँ।" पाठक इस क्षण प्रेम की पराकाष्ठा और उसके लिए त्याग की होने वाली भावना को अवश्य स्पर्श करते होंगे। ये शब्द विफल-हृदय की करुणा आह हैं।

"रामा ने कृतज्ञ शब्द कहे। देवसिंह ने स्पष्ट सुना। प्रत्युत्तर देना चाहा, किंतु जैसे किसी ने गले को पड़क-सा लिया हो—वह कुछ न कह सका।" कितनी सुंदर अभिव्यक्ति है।

"रामा ने धीमे स्वर से कहा, आप भीगे हैं। खिड़की की राह यहाँ आइए। एक क्षण ठहर कर लौट जाइएगा। आप चढ़

सकेंगे ?" धोती लटका दी। वह चढ़ आया। जिस राह से देवसिंह आया था, बिजली भी आती थी, चमकाती थी, रामा के बदन को, देख लेता था दर्शन का प्यासा देवसिंह, और मधुर-रस पीता था। बैठते ही बोला—"जाऊँ न, आपके घर का कोई जाग पड़ेगा, तो न जाने आप पर क्या आवे।" उक्त शब्द दुःख और करुणा से भरे हैं, किंतु उनकी अकस्मात शांति रामा के साहस-पूर्ण शब्द कर देते हैं। ये शब्द भक्ति के पारावार हैं—

"मुझे इसका क्या भय है ? मेरे देवता मेरे पास हैं। मेरा कोई क्या कर सकता है ? बहुत होगा, अभी आपके साथ चली जाऊँगी।"

कुछ और वार्ता हुई प्रेम-कलाप हुआ। देवसिंह घर लौट गया।

सत्रहवें परिच्छेद में पन्ना निमंत्रित होकर आता है। रात्रि में विश्राम कर लेता है। चाहता है कि रामा तक पहुँच सकूँ, किंतु कोई हिकमत न चली। आधी रात के समय देवसिंह आया। रामा निर्भयता से बोली—बतलायी, और अधिक देर तक साथ ठहरी। उसने यह प्रकट कर दिया कि घरवालों के जान लेने की परवा किंचित न थी। उसने अपनी इच्छा प्रकट करते हुए एक बार कहा—"आप रात भर यहीं रहें, और दिन में सब से मिल कर जायँ।" "वह दिन भी आयेगा।" देवसिंह ने रुक कर कहा। इसी संबंध की बातचीत में पीपल और जंगल पर की भेंट खुली। अब देवसिंह हृदय मिलाने का इच्छुक हुआ। रामा ने अभी उचित न समझा और चतुरता से निभाती रही। वह अभी प्रेम को और पक्का करना चाहती थी। इस स्थान का संलाप बहुत चतुरता से भरा है। जैसे—

प्रश्न—"तुम मेरी कौन हो ?"

उत्तर—"मैं क्या जानूँ।"

प्रश्न—"और मैं तुम्हारी कौन हूँ ?"

उत्तर—"वह तो आप ही जानें।"

रामा ने कहा—"किसकी धुन में आप पन्ना से झगड़ने आ गये थे ?" देवसिंह ने अब पूर्णरूप से प्रत्यक्ष किया—"यह सब किसकी धुन हो सकती है ? जागते हुए भी यही एक स्वप्न देखता हूँ। मरने के उपरांत इसी एक स्वप्न में लीन हो जाऊँगा।" सचमुच ये शब्द विरहकाल के दुःख की चरम सीमा के द्योतक हैं।

सम्भव है, कुछ लोग इन शब्दों के घुमाव पर छायावाद का भी आभास पावें, किंतु इसके अंतस्थ रूप को समझना सरल है, और प्रयोग का कारण भी प्रत्यक्ष है।

देवसिंह अब की बार प्रेम से भर कर गलबहियों से मिला। उसकी आँखें एक बार बरस गयीं। अंत में वह विलग हुआ, और घर गया।

अठारहवें परिच्छेद में भादों की अमावस्या की घनघोर वर्षा के बीच पन्नालाल का बरौल आगमन दिखाया गया है। इस बार भी बैताली ने उसे वापस न जाने दिया। पाठकों को याद आता होगा वह एक बार रात में वहाँ रुक चुका है।

आज रामा पिता की आज्ञा से पिता की अटारी पर सोयी थी। उसकी कोठरी में आज सिवा एक खटिया के, जिसमें एक धोती भी पड़ी थी, कुछ न था। किवाड़ों में भी जंजीर न लगायी गयी थी। पन्ना ने बड़ी आशाओं से बौछार आये हुए पौर में सो जाने की आज्ञा ली थी।

उक्त वर्णन के बाद लेखक ने एक कामातुर के पागलपन का जो सुंदर फोटो खींचा है, वह हास्य उत्पन्न करने में उसके लिए उचित भी है और बहुत समर्थ भी।

वह सोच रहा था—"उस दिन की कोशिश बेकार गयी थी। जान पड़ता था, मानों सपने में कुछ बड़बड़ा रही हो।" जाकर रामा की कोठरी का दरवाजा खटखटाता है।

"उस दिन मुझको देख कर मुस्करायी थी। जागती होती, तो अवश्य दरवाजा खोल कर आलिंगन देती। वह कितनी सलोनी है। क्या बाँकी आँख है। आज जैसे बनेगा, मिलूँगा। एक बार छाती जुड़ाने का नसीब हासिल हो जाय, फिर खैर, शादी न भी होगी, तो बहुत न अखरेगा। एक खूबसूरत फूल सूँघने को मिल जाय, बस।"

यह सब सोच कुछ करने को प्रवृत्त हुआ। एक बार धक्का दिया, उत्तर न मिला। धक्का दिया किवाड़ खुला। अंदर घुस जंजीर लगा ली। धीरे से बोला—"आज बड़ी कृपा की।" शांति देख फिर बोला—"अब ज्यादा शरम की जरूरत नहीं है। तुम्हारे लिए बहुत दिनों से मेरा कलेजा खाक हुआ जा रहा है।" फिर भी उत्तर न मिलता देख टटोल-टटोल कर चारपाई पर जा पहुँचा।

हँस कर बोला—"तुम मजाक भी करना खूब जानती हो यह मुझे मालूम है, और इसीलिए तुम्हारी सलोनी मूरत दिल में सदा गड़ी रहती है। क्या दिल्लगी की गयी है। चारपाई मेरे लिए छोड़ कर आप किसी कोने में विराजमान हैं, और बिस्तर कहीं गायब कर दिये हैं! अब ज्यादा विलंब न कर के यहाँ आ जाओ, नहीं तो मुझे हाथ पसार कर टटोलना पड़ेगा।"

थोड़ी देर बाद फिर हँस कर बोला—"कसम गंगा जी की बहुत तंग हो चुका हूँ। कोने में बैठी-बैठी अब और न सकुचा। देखो, तुम्हारे ही लिए गंदी पौर में लेटा हूँ, जहाँ कुत्ते भी लेटना पसंद न करेंगे। डरो मत घर में सब सो गये हैं। पानी इतने जोर से बरसता है कि कोई किसी की सुन भी नहीं सकता।"

वह सब धीरे-धीरे कह ही रहा था कि खिड़की के नीचे से शब्द हुआ—" मेरे स्वर को पहचाननेवाला कोई है ? "

यहाँ पन्ना का कोठरी में होना और अमले में देवसिंह का उसी में प्रवेश करना घटनाओं को एक जंजीर में जोड़ने की सुंदर कड़ियाँ हैं।

उन्नीसवें परिच्छेद में पन्ना द्वारा देवसिंह का पकड़ा जाना है। पहले तो पन्ना डरा, किन्तु फिर धूर्तता करने की इच्छा से कुछ उद्यत हुआ। आवाज हुई—" क्या प्यारी रामा सो रही हो ! मैं पानी में खड़े-खड़े भीग रहा हूँ। " वह समझा, " कोई रामा का यार है ' बोला—" अभी लोग जाग रहे हैं। " ये शब्द आगे कुछ और जानना चाहते थे, किंतु देवसिंह पानी के तूफान और प्रेम की गहराई के कारण अंधा-सा था। वह रामा की कही गयी बातों को स्मरण करके इसे अन्य पुरुष की बात न पहचान सका। यद्यपि उसने अभी तक पन्ना की बात सुन भी न पायी थी, उसने कहा—" कपड़ा डालो, आऊँ। " पन्ना मन में सफल जानकर प्रसन्न हुआ। धोती डाल दी और देवसिंह चढ़ आया।

"इधर उसके पैरों की आहट हुई, उधर रामा पैंजन किवाड़ में लगे।" यह दृश्य सचमुच ही हृदयग्राही है। घटनाओं का केंद्रीभूत करा देना ही कौशल की बात होती है और उनका अकस्मात् मिलना सत्यता का प्रमाण होता है। यही सत्यता प्रसन्नता का मुख्य कारण हुआ करती है। प्रेमियों का संचालन एक साथ होता है, यही इसका निर्णय है।

रामा समझी कि देवसिंह पकड़े गये। उसने जोर से पैर मारा, जिससे देवसिंह सावधान हो जाय कि अंदर रामा नहीं कोई दूसरा है। पर प्रेम का प्याला पिये हुए मतवाले देवसिंह को होश कैसे रहता। वह बोला—"क्या पैंजना बात करेगा ?" रामा के

हृदय में घाव हुआ, पर पन्ना पीड़ित को दबा लेने का अवसर पा गया। रामा ने आह खींची, तो देवसिंह ने अपना आगमन उसके दुःख का कारण समझना प्रकट किया। इधर डाँट-सी देते हुए पन्ना ने उसे पकड़ लिया और चिल्लाया। डण्डे और लाठी वालों की भीड़ आ धमकी। "द्वारा तोड़ दो, दुष्ट डाकू जिंदा न भग जाय, पन्ना ने हमारी खूब रक्षा की है। जल्दी करो, कहीं डाकू भैया को चोट न पहुँचा दे।" आदि। अगर बादल ने स्थिति को सँभाला न होता तो शायद वे मूर्ख देवसिंह और पन्ना दोनों को खतम कर देते। वे बड़ी जल्दी में थे। बादल ने चिराग मँगाया। दरवाजा स्वयं देवसिंह ने खोल दिया और पन्ना को पहले से ही खूब प्रसादी दे दी। बादल आदि सभी उसे देख कर नत-मस्तक हो गये।

बीसवाँ परिच्छेद कथा की अंतिम घटनाओं का चक्र है।

पन्ना हजार गालियाँ पाता है। साफा वगैरह में धूल और देह की पीड़ा उसे मारे डाल रही थी। चुपचाप बेचारा घर गया। अब उसने अपनी शान भुला दी।

पाठकों को स्मरण रहे कि इस अध्याय में दंगा और शोर खूब हुआ था। यहाँ भी बैताली ने, बारात के अवसर की भाँति, फिर क्षण भर के लिए बुद्धि का सहारा माँग कर कहा था—"दिया लिये फिरते हो। जल्दी किवाड़ तोड़े जायँ। तुम्हें अपने पुरखों की कीर्ति से बढ़ कर उनके बनवाये किवाड़ प्यारे हैं। यह दुष्ट औरतों के साथ पापाचार करने आता है।"

इसी समय बैताली रामा को पुकारता है, जो घर में नहीं मिलती। देवसिंह ढूँढने जाना चाहता है, किंतु बादल रोकता है। "तुम्हें अब फिर खो दें?" बड़ा ही स्वाभाविक वाक्य है; अब तो बादल को प्राण से मिले थे।

बैताली घाट तक गया, "राम, रामा" शब्द किया। पानी में झँप सुनी, पर न समझ सका कि कूदने वाला कोई जल-जीव था या उसकी ही बहन।

इधर देवसिंह रामा को पाने के लिए प्रेम में खिंच जाता है, छत से भागता है, किंतु जीने का सम्यक् ज्ञान न होने से नीचे धड़ाम से आ गिरता है और सारा घर रोता-पीटता दवा में लगता है।

पाठक यह बात जरूर समझ गये होंगे कि देवसिंह यदि वहीं न गिर जाता तो बहुत सम्भव था कि वह रामा के विरह में तुरंत ही नदी में डूब मरता और सारी कथा नष्ट हो जाती है।

इक्कीसवें और बाईसवें परिच्छेद में रामा का शिबू को समाचार देना और शिबू का पिघल जाना दिखाया है।

रामा, कोमल रामा, नदी में कूदती है। कठिन करार कराल के काटे हुए करर-करर गिरते हैं। झिल्लियों की झनकार और भँवरों का टरटराना उसके हृदय में भय और मस्तिष्क में कम्पन उत्पन्न करता होगा। किंतु सच्ची लगन में भयानकता को किस प्रकार कुछ नहीं समझा जाता, इसका दिग्दर्शन नीचे के वाक्यों में है।

"रामा प्राणों की होड़ कर प्रवाह के साथ युद्ध करने लगी। वह कोमल दुर्बल-देह और वह प्रचंड, भयानक धारा! भीषण प्रयत्न! रोमांचकारी दुस्साहस चढ़-चढ़ आनेवाली लहरों की परवाह नहीं, दृष्टि-केंद्र किसी दूसरे ऊँचे उज्ज्वल स्थान पर निहित। बेतवा के उद्दंड कोलाहल और उत्तुंग लहरावलि का उत्तर देनेवाले केवल नन्हे-नन्हे हाथ-पैर।"

तड़का होते ही वह पार हो गयी। खेतों में आयी हुई नौकरानियों से पता लगाती हुई वह गाँव गयी, वहाँ जैसे-तैसे पता लगाती

लम्बा घूँघट काढ़े शिबू के मकान पर आयी जहाँ शिबू दरवाजे पर मिला।

शिबू लड़के की खोज में विह्वल था। गिरते को सहारा मिला। वह समझ गया कि मेरे लड़के की खबर इससे मिली। कपड़े गीले, पैर कीचड़ से भरे उसे विश्वास दिलाते थे। अनेक प्रकार से प्रश्न करने लगा; पर उत्तर न मिला, एक-आध बार आशा कर सिर हिला। एक लड़के को बुला कर सब पता पूछा। उसकी बहू जान कर बच्चों की तरह दौड़ा और पड़ोस की औरतों को गाने-बजाने को बुला लाया। सौ भैंसें दान कर दीं। बड़े समारोह के खर्च से थोड़े ही आदमियों को लेकर बरेलि गया। जहाँ बादल और बैताली उसके पैर पड़े। बारात का स्वागत किया। रीतियाँ पूरी कीं। सौ की जगह प्रेम से दो सौ भैंसें दान में दीं। देवसिंह स्वतंत्रता से रामा से आ मिला।

तेईसवें खण्ड में रामा मायके जाती है। सुभद्रा भी मायके आयी है दोनों पीपल के नीचे चबूतरे पर मिली हैं। रामा सोने का कड़ा देती है, इन शब्दों के साथ—

"कहाँ गये वे कहने वाले, चरणों पर न्योछावर हूँ।" इस प्रकार पतिव्रता रामा ने व्रत का कठिन समय निभाकर दिखा दिया।

सुघड़ रामा

इस कथानक के नायक और नायिका देवसिंह और रामा हैं। रामा एक सभ्य और पवित्र विचार की कन्या थी। विवाह हो जाने के बाद से ही, यद्यपि वह पति घर का दर्शन न कर सकी थी, और न पति के स्वभाव से ही परिचित थी, वह अपने पति से घनिष्ठ प्रेम करती थी। पति-मिलन की कामना से वह पीपल में दिया जलाने आती थी। नदी में स्नान करने आती थी। और कुछ नहीं, तो सुभद्रा ऐसी युवती के साथ रहती थी, जो कोई-न-

कोई बात छेड़ कर उसे बार-बार अपने संस्कार द्वारा वर्णन किये हुए पति की स्मृति देती थी। वह सन्यस्त भाव से रहते हुए सजे-बजे पुरुष जैसे पन्ना आदि पर मोहित न हुई। घर के वैभव छोड़ भयानक और शीतल अटारी पर शयन करती थी।

वह सदा ही हृदय और मस्तिष्क के परदे खोल कर चलती थी। माता-पिता को कलंक लगने के भय से कभी यह प्रकट नहीं किया कि मैं कौन वर चाहती हूँ और क्यों? एक बार देवसिंह को घूँघट के परदे से देख कर उसकी सूरत कभी नहीं भूली। पास आते हुए देवसिंह से यदि ऐसे शब्द नहीं बोली, जो उसे काम और मोह में डाल सकते थे, तो भी कभी ऐसे शब्द नहीं बोली, जिससे उसका साहस और प्रेम कम होता। उसने एक बार कहा, जबकि देवसिंह डर-सा रहा था—

"जब मेरे देवता मेरे पास हैं। कोई कह ही क्या सकता है? बहुत होगा आपके साथ चली जाऊँगी।"

पतिदेव खिड़की के नीचे भीगते और दीन स्वर छोड़ते हैं—"खड़े-खड़े एक बात कहनी है। और कोई साध नहीं। फिर मैं संसार के लिए और संसार मेरे लिए कुछ न होगा।"

उसने सुनते ही (कहीं उसी के दोष से ऐसा न हो, ऐसा सोच कर) कृतज्ञता से कहा—"आप भीगे हैं, खिड़की की राह आइए? एक क्षण ठहर कर लौट जाइएगा। आप चढ़ सकेंगे?" और झट धोती डाल दी।

वह बड़ी चतुर थी। सुभद्रा से अपने सारे दोषारोपण सुने, और झट उसी से प्रकट किया। मामला कुछ नहीं था। पैर की आवाज से देवसिंह का आना जान कर पैंजन की आवाज से तुरंत सावधान किया, किंतु उसकी नासमझी से, दुखित होकर, विचलित नहीं हुई। ऐसी भयानक नदी के पार जाकर शिबू को सूचित किया। इससे उसका प्रगाढ़ प्रेम ही प्रगट होता है।

नायक देवसिंह

देवसिंह के संबंध में इस आलोचना के आरंभ में ही कुछ कहा गया था। यह एक स्वतंत्र विचार का नवयुवक है। उसे अधर्म-पूर्ण, लोभ से उत्पन्न होने वाले क्रोध और किये गये कामों की तुच्छता व्यथित करती है। पवित्र भावों से हो सकने वाले कामों को युक्ति से उसी प्रकार कर लेने को वह सदैव उद्यत रहता है, किंतु साथ ही एक बड़े धर्म को निबाहने के लिए वह छोटे-छोटे अधर्मों को बुरा नहीं मानता।

उसकी भाँवर जिस रामा के साथ डाली गयी थी, वह उस रामा के सुख का उत्तरदायित्व अपने ऊपर निहित देखता है। उसी उत्तरदायित्व के ध्यान से उसने अनेक बार अपने पिता से असत्य-भाषण किया, छिप-छिप कर, चोरों की भाँति, रामा की खोज में गया।

इसकी बुद्धि इतनी अधिक प्रखर नहीं है, जितनी रामा की। उसने दूरदर्शिता से कई बार सावधान किया था। "आप कल न आवें" किंतु वह आ ही पहुँचा, शाम के समय पीपल के वृक्ष के नीचे खड़ा होकर रामा और सुभद्रा को देखता और सुनता है। यदि उसे कोई देखता, वह अवश्य ही उचक्का समझा जाता। किंतु वह यह नहीं सोच सका, तथापि उसका प्रेम गूढ़ था, यह सर्व-स्वीकृत है और यदि ऐसा उस पवित्र प्रेम में हुआ, तो उसका दोष नहीं।

वह एक दृढ़-प्रतिज्ञ पुरुष था। अपने लक्ष्य के लिए उसने सब कुछ किया। उसका लक्ष्य लगन थी, और लगन में ही उसका लक्ष्य था।

इस आख्यान के और भी पात्र हैं, सुंदर हैं, वास्तविक हैं, और अच्छे हैं। उनका विश्लेषण करना इस लेख का कलेवर बढ़ाना है।